विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक

रामेश्वर मिश्र

खण्ड ४४
अंक १-४

चैत्र २०६० - फाल्गुन २०६०
अप्रैल २००३ - मार्च २००४

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः--सत्यंह्येकम्। पन्थाः पुनरस्यः नैकः।विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैवयं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य-इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्वचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्रच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वे प्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उदेश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यही तक सीमित नहीं। सम्पादक-मण्डल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है, जिनकी रचनाएँ और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नही है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नही मानता।

आलेख तथा समीक्षार्थ पुस्तकों से संबंधित समस्त पत्र-व्यवहार करने का पता :

संपादक, विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)

हिन्दीभवन परिसर,शान्तिनिकेतन-731235

पश्चिम बंगाल

Visva-Bharati Patrika (A quarterly journal of literature and culture in Hindi)
Vol. 44 No. 1-4
April 2003 - March 2004

प्रकाशक :
सुनील कुमार सरकार
अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग, विश्वभारती,
6, आचार्य जगदीश चन्द्र वसु रोड
कोलकाता - 700017

अक्षर विन्यास :
श्री बेनीमाधव पाल
बोलपुर, वीरभूम

अभिकल्पन :
रामचन्द्र राय

मुद्रक: नव प्रेस प्रा. लिमिटेड,
कोलकाता-700006

सम्पादकीय कार्यालय :
हिन्दीभवन परिसर,
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन - 731235
पश्चिम बंगाल
Fax: 03463 262-672/261-156
E-mail: root@vbharat.ernet.in

प्रकाशन तिथि: नवम्बर,2006

मूल्य:
देश में - एक प्रति: 30 रुपये
वार्षिक : 100 रुपये
विदेश में - एक प्रति: 3 अमरीकी डॉलर
वार्षिक: 10 अमरीकी डालर

हलवासिया शोध ग्रन्थमाला

सम्पादकः रामेश्वर मिश्र

रायबहादुर विश्वेश्वरलाल मोतीलाल हलवासिया ट्रस्ट, कोलकाता ने ट्रस्ट के संस्थापक विश्वेश्वरलाल हलवासिया की जन्मशतवार्षि की(सन् 1970) के अवसर पर हिन्दी मे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए विश्वभारती को आर्थिक अनुदान दिया था। इस अनुदान तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की आर्थिक सहायता से ग्रन्थमाला का कार्य आरम्भ हुआ।इस ग्रंथमाला के अंतर्गत निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं:

दिव्य-प्रबंध-तमिल भाषा में प्रणीत वैष्णव भक्त 'अल्वारो की वाणियॉं' (तमिल वेद) आठ भागों मे समाप्त। भारतीय भक्तिधारा का आकर ग्रन्थ, देवनागरी में मूल तमिल तथा प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद। अनुवादक : पण्डित श्रीनिवास राघवन।

ग्रन्थांक-1	दिव्य-प्रबंध-भाग-1 संत विष्णुचित (पेरियाल्वार) की रचनाएं	मूल्य 25 रुपये।
ग्रन्थांक-2	वज्रयानी सिद्ध सरहपाद- डॉ द्विजराम यादव	अप्राप्य
ग्रन्थांक-3	मध्ययुगीन हिन्दी काव्य मे प्रयुक्त काव्यरूढ़यों का अध्ययन —डॉ. देवनाथ चतुर्वेदी	मूल्य 40 रुपये।
ग्रन्थांक-4	दिव्य-प्रबंध-भाग 2, संत आण्डाल (गोदा), कुलशेखर, भक्तिसार, मुनिवाहन, तथा मधुर कवि की रचनाएँ	मूल्य 35 रुपये।
ग्रन्थांक-5	दिव्य-प्रबंध-भाग 3, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य 40 रुपये।
ग्रन्थांक-6	दिव्य-प्रबंध-भाग 4, संत परकाल की रचनाएँ	मूल्य 40 रुपये।
ग्रन्थांक- 7	इतालवी व्याकरण-इतालवी भाषा का हिन्दी मे प्रथम व्याकरण -डॉ. एदमोन्दी आन्देरलीनी तथा डॉ रामसिंह तोमर	मूल्य 70 रुपये।
ग्रन्थांक 8	दिव्य-प्रबंध-भाग 5, संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य 50 रुपये।
ग्रन्थांक 9	दिव्य-प्रबंध-भाग 6, संत शठकोप की रचनाएँ	मूल्य 50 रुपये।
ग्रन्थांक 10	दिव्य-प्रबंध-भाग 7, संत कासार, संत भूत, संत वताल तथा संत भक्तिसार की रचनाएँ	मूल्य 50 रुपये।
ग्रन्शांक-11	दिव्य-प्रबंध-भाग 8, संत शठकोप, संत परकाल तथा श्रीरंगाचार्य की रचनाएँ	मूल्य 50 रुपये।
ग्रन्थांक-12	आधुनिक कविता मे राष्ट्रीय चेतना -प्रो. ऊ जो किम (दक्षिण कोरिया)	मूल्य 150 रुपये।
ग्रन्थांक-13	माणिक्कवाचकर, तिरुवाचकम (भाग-1)	मूल्य 125 रुपये।
ग्रन्थांक-14	माणिक्कवाचकर,तिरुवाचकम् (भाग 2)	मूल्य 150 रुपये।

विश्वभारती पत्रिका के उपलब्ध विशेषांक

1. महात्मा गाँधी जन्मशती विशेषांक
   मूल्य –30 रु.
   चित्रो की संख्या –14

2. चार्ल्स फ्रियर ऐण्ड्रूज जन्मशती विशेषांक
   मूल्य — 30 रु.
   चित्रों की संख्या –13

3. मानस चतुश्शती अंक
   मूल्य — 30 रु.
   चित्रों की संख्या – 1

4. पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी स्मृति अंक
   मूल्य - 30 रु.
   चित्रों की संख्या - 3

5. रामानन्द चट्टोपाध्याय विशेषांक
   मूल्य — 30 रु.
   चित्रों की संख्या –7

6. सूर-पंचशती विशेषांक
   मूल्य — 30 रु.

7. रवीन्द्र-विशेषांक
   मूल्य — 30 रु

8. पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी जन्मशती विशेषांक
   मूल्य — 30 रु.
   चित्रों की संख्या - 17

9. मध्ययुग परिचयात्मक हलवासिया अंक
   मूल्य - 30 रु.
   चित्रों की संख्या –15

ग्रन्थमाला की पुस्तकें और पत्रिका मँगवाने के लिए तथा समस्त प्रकार के व्यावसायिक पत्राचार का पता:

सचिव,विश्वभारती पत्रिका (हिन्दी)
हिन्दीभवन परिसर,शान्तिनिकेतन-731235
पश्चिम बंगाल

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड-४४ अंक १-४ चैत्र २०६० - फाल्गुन २०६० अप्रेल २००३ - मार्च २००४

विषय-सूची

हिन्दी त्रैमासिक 'विश्वभारती पत्रिका'

रजिस्ट्रार न्यूज पेपर्स फार्म- 4, नियम संख्या 8 के अनुसार विवरण

1.	प्रकाशन का स्थान	:	शान्तिनिकेतन, जिला-बीरभूम, प.बंगाल
2.	प्रकाशन की आवृत्ति	:	त्रैमासिक।
3.	प्रकाशक	:	सुनील कुमार सरकार अध्यक्ष,प्रकाशन विभाग,विश्वभारती 6,आचार्य जगदीश चन्द्र बोस रोड ,कोलकाता-700017
4.	कम्प्यूटर कम्पोजिंग	:	श्री बेनी माधव पाल, रामकृष्ण रोड, बोलपुर,वीरभूम। पश्चिम बंगाल
5.	संपादक	:	रामेश्वर मिश्र
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय,
	पता	:	शान्तिनिकेतन, जिला-वीरभूम, पश्चिम बंगाल ।
6.	स्वामित्व	:	विश्वभारती,शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल ।

मैं सुनील कुमार सरकार यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये तथ्य मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सत्य हे।

सुनील कुमार सरकार
अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग, विश्वभारती
6,आचार्य जगदीश चन्द्र बोस रोड
कोलकाता

वि॰वभारती पत्रिका

खण्ड-४४, अंक १-४, चैत्र २०६० - फाल्गुन २०६०, अप्रैल २००३ - मार्च २००४

जन्मदिने (२१)

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रक्तमाखा दन्तपंक्ति हिंस्र संग्रामेर
शत शत नगरग्रामेर
अन्त्र आज छिन्न छिन्न करे;
छुटे चले विभीषिका मूर्छातुर दिके दिगन्तरे।
वन्या नामे यमलोक हते,
राज्यसाम्राज्येर बाँध लुप्त करे सर्वनाशा स्रोते।
ये लोभ-रिपुरे
लये गेछे युगे युगे दूरे दूरे
सभ्य शिकारीर दल पोषमाना श्वपदेर मतो,
देशविदेशेर मांस करेछे विक्षत
लोलजिह्वा सेइ कुक्कुरेर दल
अन्ध हये छिंड़िल शृंखल
भुले गेल आत्मपर;
आदिम वन्यता तार उद्बारिया उद्दाम नखर
पुरातन ऐतिह्येर पातागुला छिन्न करे,
फेले तार अक्षरे अक्षरे
पङ्कलिप्त चिह्नेर विकार।
असन्तुष्ट विधातार
ओरा दूत बुझि
शत शत वर्षेर पापेर पुँजि
छड़ाछड़ि करे देय एक सीमा हते सीमान्तरे,
राष्ट्रमदमत्तदेर मध्यभाण्ड चूर्ण करे

आवर्जनाकुण्डतले।
मानव आपन सत्ता व्यर्थ करियाछे दले दले,
विधातार संकल्पेर नित्यइ करेछे विपर्यय
इतिहासमय।
सेइ पापे
आत्महत्या-अभिशापे
आपनार साधिछे विलय।
हयेछे नर्दय
आपन भीषण शत्रु आपनार' परे
धूलिसात् करे
भूरिभोजी विलासीर
भाण्डारप्राचीर।

श्मशानविहारविलासिनी
छिन्नमस्ता, मुहूर्तेइ मानुषेर सुखस्वप्न जिनि
वक्ष भेदि देखा दिल आत्महारा,
शतस्रोते निज रक्तधारा
निजे करि पान।
ए कुत्सित लीला यवे हवे अवसान,
वीभत्स ताण्डवे
ए पापयुगेर अन्त हवे,
मानव तपस्वीवेशे
चिताभस्मशय्यातले एसे
नवसृष्टि-ध्यानेर आसने
स्थान लबे निरासक्तमने—
आजि सेइ सृष्टिर आह्वान
घोषिछे कामान।

गौरीपुरभवन। कालिम्पंग
२२ मे १९४०

हिन्दी अनुवाद

खून से सनी दंतपंक्तियाँ हिंस्र संग्राम की
शत-शत नगर-ग्राम की
आँतें आज करती हैं छिन्न-भिन्न;
दौड़ रही विभीषिका मूर्च्छातुर दिक्-दिगन्त में।
बाढ़ उतरी यमलोक से,
राज्य-साम्राज्य का बाँध लुप्त करती सर्वनाशी स्रोत से।
जिस लोभ-रिपु को
ले गया है युग-युग में दूर-दूर
सभ्य शिकारियों का दल अनुगत श्वापद की तरह,
देश-विदेश का मांस किया है विक्षत,
लोलजिह्वा कुत्तों के उस दल ने
अन्ध हो तोड़ दिया शृंखल,
भूल गया अपना पराया;
आदिम बर्बरता ने उसकी खोल लिये उद्दाम नाखून
पुरातन ऐतिह्य के पन्नों को छिन्न कर,
अक्षर-अक्षर पर उसके
छोड़ दिये पंकलिप्त चिह्न के विकार।
असंतुष्ट विधाता के
लगते हैं दूत वे,
शत-शत वर्ष की पूँजी पाप की
देते हैं बिखेर एक सीमा से दूसरे सीमान्तर में
राष्ट्रमदमत्तों के मद्यभाण्ड चूर्ण कर
आवर्जनाकुण्ड के तले।
मानव ने व्यर्थ की अपनी सत्ता दल बाँध कर

विधाता के संकल्प का नित्य किया विपर्यय
पूरे इतिहास में।
उसी पाप से
आत्महत्या के अभिशाप से
कर रहा अपना विलय।
हुआ है निर्दय
अपना ही बना शत्रु भीषण रूप से,
अपने ही ऊपर
धूलिसात् कर रहा
भूरिभोजी विलासी का
भंडार-प्राचीर।

श्मसान-विहार-विलासिनी
छिन्नमस्ता, पल भर में मनुष्य के सुख स्वप्न को जो
विदीर्ण कर वक्ष को दिख पड़ी आत्महारा,
शतस्रोतों में अपनी रक्तधारा
करती वह स्वयं पान।
इस कुत्सित लीला का होगा जब अवसान,
वीभत्स तांडव में मत्त
इस पापयुग का होगा अंत,
तपस्वीवेश में मानव
आकर चिताभस्मशय्या के नीचे
नवसृष्टि-ध्यान के आसन पर
लेगा स्थान निरासक्त मन से—
आज उसी सृष्टि के आह्वान
की घोषणा करती है कमान।

गौरीपुरभवन। कलिम्पंग
२२ मई १९४०

अनुवाद: रा. मि.

कबीर की आर्थिक दृष्टि की प्रासंगिकता

—बैजनाथ प्रसाद

क्या कबीर ने अपने समाज के सम्पन्न वर्ग की निंदा अपनी विपन्नता के कारण की है या विरक्त प्राणी होने के कारण उनके मन में सांसारिक ऐश्वर्य के प्रति उपेक्षा भाव है? ये दोनों प्रश्न कबीर की आर्थिक दृष्टि से जुड़े हैं। इधर जब से सांप्रदायिक तनाव और वर्ण-व्यवस्था की महत्ता को समाप्त करने के लिए कबीर की कविता को आधार बनाया जाने लगा है तब से राजनेता, संस्कृतिकर्मी, बुद्धिजीवी और सत्संगी कबीर की कविता दुहराते मिलते हैं। संविधानप्रदत्त सामाजिक समानता की समाज द्वारा की जा रही उपेक्षा से उत्पन्न दलित विमर्श में कबीर की कविता का अपना अलग महत्व है और इस प्रकार आज कबीर और उनकी कविता दोनों पर बहस छिड़ी हुई है।[१] लेकिन इससे एक बात गायब है जिसका आज सबसे अधिक महत्व है यानी जो समसामयिकता को दिशानिर्देश करती है, वह है-अर्थव्यवस्था और इस पर कबीर की दृष्टि से विचार होना बाकी है। हालाँकि कबीर पर जो आलोचनात्मक पुस्तकें उपलब्ध हैं, उनमें कबीर की आर्थिक दृष्टि पर भी एक अध्याय मिलता है, लेकिन वह कबीर का आर्थिक उपदेशमात्र है, इसलिए आज की आर्थिक व्यवस्था के संदर्भ में कबीर की कविता के मूल्यांकन का महत्व है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि मध्यकाल के आर्थिक संसाधन एवं व्यवस्था से आधुनिक काल के संसाधनों एवं व्यवस्था का कहीं मेल नहीं है, इसलिए दोनों युगों की आर्थिक परिस्थिति भिन्न होने के कारण कबीर की आर्थिक दृष्टि को आधुनिक काल की आर्थिक व्यवस्था के समानांतर विश्लेषित करना निरर्थक है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि के नियामक केवल संसाधन एवं आर्थिक व्यवस्था ही नहीं होते, उसके पीछे सामाजिक विश्वासों का बहुत बड़ा हाथ होता है! आज संविधान ने मध्यकालीन समाज-व्यवस्था को नकारते हुए एक नई व्यवस्था विकसित की है और उसके संरक्षण के लिए विधि-व्यवस्था है, पर समाज का चिंतन बहुतायत में मध्यकालीन ही है। इसलिए समाज न केवल धर्म, वर्ण, जाति, भाषा और स्थान के बारे में मध्यकालीन विश्वासों को

आधार बनाता है, अपितु उसकी आर्थिक दृष्टि के केंद्र में भी वे विश्वास विद्यमान हैं, इसलिए समसामयिकता के संदर्भ में कबीर की आर्थिक दृष्टि पर विचार करना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है।

घटनाक्रम के कारण परिस्थितियों में बदलाव आने से सामाजिक ढाँचे में कभी अध्यात्म का जोर बढ़ जाता है तो कभी धर्म का। इसी तरह कभी राजनैतिक वर्चस्व का प्रभाव समाज को अभिभूत करने लगता है तो कभी सांस्कृतिक उच्चता के समक्ष समाज का पूर्ववर्ती स्वरूप टिक नहीं पाता। लेकिन हर स्थिति में अर्थव्यवस्था अपनी भूमिका का निर्वाह करती रहती है। हालाँकि अध्यात्म और दर्शन का जोर होने पर समाज में अर्थसंबंधी दृष्टि को अधिक महत्व नहीं मिल पाता, पर उस जोर को ढीला करने में अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा योगदान होता है। यह बात बौद्धकाल, भक्तिकाल और गाँधीयुग में आए बदलाव के संदर्भ में देखी जा सकती है। जाहिर है कि अर्थव्यवस्था के कारण न केवल व्यक्ति एवं समाज में परिवर्तन आता है, बल्कि स्थान (देश) और काल (इतिहास) को भी प्रभावित होना पड़ता है और यह अध्यात्म, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज और संस्कृति सबसे अधिक असरदार है। इसलिए मनुष्य आर्थिक दृष्टि से सबल होने के लिए जीवन और समाज की नियमावली को बनाता चला आ रहा है, और कालांतर में वह नियमावली विश्वास के रूप में स्वीकृत हो गई और इस प्रकार आर्थिक दृष्टि को सामाजिक संरक्षण प्राप्त हो गया। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि की पारस्परिक संपृक्ति के कारण एक में बदलाव लाए बिना दूसरी में बदलाव असंभव हो जाता है। समसामयिक व्यवस्था में अर्थव्यवस्था को विकसित एवं सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न तो किए जाते हैं, पर समाज-व्यवस्था से जुड़े विश्वासों को छोड़कर, और इसके नतीजे आए दिन देखने में आते हैं। आज संचार माध्यमों से बाजारवाद से उत्पन्न जिस उदारीकरण के महत्व का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है वह मेहनतकश वर्ग को उधारीकरण के गर्त में धकेल रहा है और पूँजिपति वर्ग की आर्थिक स्थिति उत्तरोत्तर दृढ़तम होने के चलते समाज में आर्थिक विषमता की खाई दिनोंदिन अधिक चौड़ी व गहरी होती जा रही है। कबीर के समय न तो बाजारवाद के विज्ञापनों का छलावा था और न ही उदारीकरण बनाम उधारीकरण का होहल्ला। समाज में सत्तापक्ष की

ओर से सीधे शोषण की व्यवस्था थी और इतिहासकार इस पर टिप्पणी करते लिखता है- "सल्तनत युग में ऊच्च सैनिक तथा असैनिक पदाधिकारियों के वेतन बहुत भारी थे। पदाधिकारी तथा सामंत विशाल प्रासादों में रहते, अनेक दास-दासियाँ उनकी सेवा करतीं तथा वे विलास तथा वैभव का जीवन बिताते थे। मध्य वर्ग भी जिसमें विभिन्न देशों के लोग, क्लर्क तथा व्यापारी सम्मिलित थे, काफी सम्पन्न था। किन्तु देश की बहुसंख्यक सामान्य जनता दरिद्र थी और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उनके पास पर्याप्त साधन नहीं थे। किसानों के पास भूमि की उपज का केवल एक तिहाई भाग बच पाता था। राज्य-कर का भारी बोझ उन्हीं पर पड़ता था।"[२] इस टिप्पणी के बाद कबीर के समाज की आर्थिक स्थिति से वर्तमान की स्थिति के बीच अधिक अंतर की गुंजाइश नहीं बचती। दोनों में आर्थिक वैषम्य के लिए पर्याप्त स्थान एवं अवसर विद्यमान हैं जिनके कारण शोषण-वृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

कबीर की भक्तिभावना पर विचार करते हुए उन्हें परम विरक्त सिद्ध किया जाता है और इस प्रक्रिया में उनकी सांसारिकता को नकारनेवाली कविता को उद्‌धृत किया जाता है।पाठक समुदाय को न तो कबीर की भक्ति-भावना अटपटी लगती है और न ही उनका मायाविरोध, क्योंकि दोनों परस्पर संपृक्त हैं और कबीर ने अनेक बार इन दोनों का उल्लेख किया भी है। लेकिन इसके पीछे न तो कबीर के द्वारा सांसारिक जीवन का त्याग है और न ही जीवन साधनों से मुक्त हो जाना। यह सच है कि कबीर प्रकृति से संत हैं, इसलिए वे प्रत्येक स्थिति पर संत-दृष्टि से विचार करते हैं, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि एक गृहस्थ प्राणी होने के चलते उन्हें भी अपने घर-द्वार और बाल-बच्चों के बारे में सोचना पड़ता है, इसलिए वे दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए जुलाहे हैं और मेहनत कर अपनी रोटी आप जुटाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थोपार्जन उचित एवं आवश्यक है। लेकिन वे भक्त हैं, इसलिए अपने भगवान् से दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की माँग करते हैं– भूखे रहकर भक्ति नहीं हो पाती है। इसलिए प्रभु! मेरी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुझे सात्त्विक साधनों के सहारे अर्थोपार्जन की ओर प्रेरित करो, क्योंकि इस संसार के सामने हाथ फैलाना व्यर्थ

है। मेरा किसी से कुछ भी लेना-देना नहीं है। हे माधव! भूखे रहकर कैसे भक्ति हो पाएगी? यदि तुम नहीं दोगे तो तुमसे माँग लूँगा। तुम मुझे दो सेर आटा, एक पाव घी और आधा सेर दाल दो। और हाँ, थोड़ा नमक देना नहीं भूलना, नहीं तो रसोई फीकी रह जाएगी। तब मुझे दोनों जून का भोजन मिल पाएगा। इसके बाद सोने के लिए खाट भी चाहिए और सिर के नीचे रखने के लिए सिरहाना। ओढ़ने के लिए रूई भरी दुलाई और बिछाने के लिए सिली सुजनी भी चाहिए। तब तुम्हारी भक्ति पूरी तत्परता और शांति से हो पाएगी। ये चीजें किसी और से नहीं माँगी जा सकती हैं। तुम मेरे स्वामी हो और मैं तुम्हारा सेवक, इसलिए मेरी मान लो-पहले मेरी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करो तब तुम्हारा भजन अच्छी तरह हो पाएगा'-

भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै।
हौं माँगों संतन रेना, मैं नाही किसी का देना।
माधो, कैसी बनै तुम संगे। आपन देहु त लेवउ मंगे।।
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना।
अध सेर मांगउ दाले। मोको दोनउ बखत जिवाले।।
खाट मांगउ चउपाइ। सिरहाना अवर तुलाई।
उपर कउ माँगउ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा।
मैं नाही कीता लबो। इकु नाउ तेरा मैं फबो।
कहि कबीर मनु मान्या। मन मान्या तौ हरिजान्या[३]।।

यहाँ कबीर पूरी तरह सांसारिक व्यक्ति हैं और वे अपने दैनिक जीवन की प्रार्थमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की कामना करते हैं। तो वे विरक्त प्राणी कैसे हुए?

कबीर की आर्थिक दृष्टि के केंद्र में संतोष-वृत्ति है जिससे वे अपने जीवन को नियंत्रित करते ही हैं, जगत् को भी इसे अपनाने का परामर्श देते हैं—

चिंता छांड़ि अचिंत रहु, सांई, सांई है समरत्थ।
पसु पंखेरु जीव जंनु, तिनकी गाँठी किसा गरस्थ।।[४]

चिंता से जीवन में निराशा आने लगती है और निराश व्यक्ति विक्षिप्त बना भटकता रहता है, इसलिए कबीर इसके निवारण के लिए परमात्मा के प्रति आस्था

रखते हैं। उन्हें मालूम है कि प्रभु शक्तिसम्पन्न एवं समर्थवान हैं और उनका हाथ मेरे सिर पर है। फिर चिंता किस बात की? तभी तो वे निश्‍चिंत हैं। प्रभु तो इतने दयालु हैं कि पशु-पक्षी सभी का पालन करते हैं। तो क्या वे कबीर पर कृपा नहीं करेंगे? लेकिन कबीर संतोष-वृत्ति के नाम पर कर्म-शून्यता को कहीं नहीं अपनाते। संतोष-वृत्ति से उनका अभिप्राय निष्क्रियता नहीं है और इसलिए वे वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों स्तरों पर निष्क्रियता को समाप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं। यदि यह बात नहीं होती तो वे संतवेश में याचना करते नजर आते और इस स्थिति में जुलाहागीरी नहीं करनी पड़ती। समाज तो सदा से गेरुये वस्त्र धारण करनेवाले को दान देता रहा है। लेकिन कबीर को समाज से लेना अत्यंत ही अपमानजनक लगता है। इसके दो कारण हैं— एक तो लेने से वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों स्तरों पर निष्क्रियता पनपने लगती है और दूसरा यह कि परिश्रम का महत्व समाप्त होने लगता है। दरअसल जो व्यक्ति लेने के फिराक में लगा रहता है वह हाथ-पाँव हिलाना बंद कर हराम की कमाई पर गुजारा करने लगता है। चूँकि कबीर ने समाज में व्याप्त निष्क्रियता के इस दुष्परिणाम को देखा होगा इसलिए उन्होंने याचना-वृत्ति पर प्रहार किया है। जब माँगने से अत्यंत ही अपमानजनक स्थिति में आ जाना पड़ता है और जीवन को चलाना भी है तो अब एक ही रास्ता परिश्रम का बचता है और कबीर स्वयं इस पर चलते हुए समाज को चलने की प्रेरणा देते हैं। जो लोग इनकी कविता में विरक्ति एवं साधना को ही रेखांकित करते हैं उन्हें कवि की कर्मण्यता पर विचार कर लेना चाहिए।[५] किसी रचनाकार की रचना में से दो-चार पांक्तियों को छाँटकर मनमाने ढंग से उनका अर्थ निकालना एक बात है और रचनाकार की जीवन-संकल्पना के आलोक में उनके मर्म को समझना दूसरी। भक्तिकाव्य से कुछ पांक्तियों को निकालकर मनमाने ढंग से अर्थ करनेवाले लोगों की कमी नहीं है और उनके द्वारा भक्तिकाव्य के प्रति अरुचि उत्पन्न करनेवाले भावों का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। लेकिन कबीर की कविता सामने आते ही आलोचना का मिथ्यात्व भरभराकर गिर जाता है, क्योंकि उनकी कविता के पीछे उनकी जीवन-संकल्पना का यथार्थ अनुमान छिपा हुआ है। वे कविता करने के लिए कविता नहीं करते। सच तो यह है कि वे कविता करते ही नहीं, उनके जीवन के अनुभव स्वयं कविता रूप

में अभिव्यक्त हो जाते हैं। भला जो व्यक्ति दिनभर जुलाहेगीरी करेगा; उसके पास कविता करने के लिए समय कहाँ से आएगा! जाहिर है कि उसने जो अनुभव किया वह अपने आप अभिव्यक्त हो गया। परिश्रमपूर्ण जीवन व्यतीत किया तो कविता में परिश्रम का महत्व अभिव्यक्त हुआ और इससे याचना-वृत्ति का स्वतः विसर्जन हो जाने से एक स्वस्थ वातावरण बनने लगा। आज के समाज में ऐसे वातावरण का अंत होने लगा है। चारों ओर उठाईगीरी के एक-से-एक नमूने नजर आते हैं। कोई खुद उठा लेता है तो कोई उठाकर देने के लिए मजबूर करता है। रिश्वत ने 'गिफ्ट' की शक्ल हासिल कर ली है और मौके-मौके पर इसे न देनेवाले को कंजूस, अव्यावहारिक, गँवार, असभ्य और न जाने कितने नाम दिए जाते हैं। इसलिए सभ्य कहलानेवाले प्राणी 'गिफ्ट' लेना और देना अपने जीवन का महत्वपूर्ण कार्य मानते हैं। क्या इस समाज में परिश्रम को वरीयता मिल सकती है? और इस स्थिति में समाज जहाँ एक ओर फरेब के जाल बुनने में लगा हुआ है वहीं दूसरी ओर उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए भाग्य के ठेकेदारों (ये सभी धर्मो में विद्यमान हैं) के चक्करों में पड़ा ऐसे-ऐसे कामों को अंजाम देता है जिनमें न तो विवेक का एक कण होता है और न ही विज्ञान का स्पर्श। तात्पर्य यह कि आज समाज वैज्ञानिक संसाधनों को प्राप्त करने के बाद भी अवैज्ञानिकता की परिधि से बाहर नहीं निकल पाया है, इसलिए परिश्रम के स्थान पर मित्थात्व का निर्वाह करता रहता है। यदि अर्थव्यवस्था के संबंध में समाज के सभी वर्गों के लिए परिश्रम करना अनिवार्य कर दिया जाए, तो इससे अर्थ के असमान वितरण पर अंकुश लगने लगेगा और इस स्थिति में जहाँ एक ओर सम्पन्न वर्ग की शोषण-वृत्ति की पोल-पट्टी खुलने लगेगी वहीं दूसरी और परिश्रमी वर्ग को परिश्रम का उचित पारिश्रमिक मिलने लगेगा। और इससे समाज में व्याप्त निष्क्रियता का अंत होने लगेगा। यदि अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता के साथ विवेक-दृष्टि नहीं जुड़ी है तो व्यक्ति में प्रदर्शन की भावना आने लगती है और वह अपनी महत्ता को स्थापित करने के लिए कई तरह के कामों को पूरा करने में लग जाता है। इसलिए तुलसी ने प्रभुतासम्पन्न व्यक्ति को अहंकारी बताया है और यह बात गलत भी नहीं है। धर्म, वर्ण, जाति, वंश, जन,सम्पदा, पद आदि की श्रेष्ठता प्राप्तकर अहं भाव उत्पन्न होना कोई नई बात

नहीं है। कबीर के समाज में यह स्थिति है और आज के समाज में भी और कबीर ने इस स्थिति से उबरने के लिए कहा है—

आपनापौ न सराहिऔ, और न कहिओ रंक।
नां जानौं किस निरिख तलि, कुड़ा होइ करंक।।[६]

मनुष्य का सबसे प्रबल शत्रु मरण है और वह इससे सदा बचने के प्रयत्न में रहता है, लेकिन आज तक किसी को मरण से छुटकारा नहीं मिला है। राजा-रंक, बलवान, निर्बल, ज्ञानी-अज्ञानी और पापी-पुण्यात्मा सभी को एक-न-एक दिन मरण की शरण में जाना ही पड़ता है। कबीर ने इस यथार्थ स्थिति को आधार बनाकर अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता के कारण उत्पन्न अहं भाव के परिष्कार का उपाय सुझाया है। अधिकांश लोग विवेक-दृष्टि से शून्य होने के कारण अनुकरण करने लगते हैं और जब साधन की कमी न हो तब तो अनुकरण की प्रक्रिया अधिक तेज होने लगती है और यहीं प्रदर्शन का जन्म होता है। ऐसे तो गरीब भी प्रदर्शन का शिकार होता है, पर गरीबी की वजह से वह बहुत देर तक टिक नहीं पाता। जाहिर है कि जिसमें विवेक नहीं है वह दिखावे के माध्यम से अपने बड़प्पन का खूँटा गाड़े बिना चैन नहीं पाता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जिसे परमात्मा ने सम्पन्नता दी है वह हर्षोल्लास के साथ जीवन व्यतीत करता है तो इससे किसी को क्यों आपत्ति होनी चाहिए। यह बात ऊपर से तो उचित लगती है, पर इसके परिणाम पर विचार किया जाए तो साफ साफ स्पष्ट हो जाता है कि जिसे परमात्मा के द्वारा सम्पन्न बनाने की बात एक सोची-समझी साजिश के तहत की जाती है और इसे इस रूप में सैकड़ों वर्ष से प्रचारित किया जाता रहा है और इसके कारण ही समाज के मन में यह बात घर कर गई है कि सम्पन्नता और विपन्नता का कारण परमात्मा की प्रसन्नता और रुष्टता है। इसलिए बहुत काल तक राजाओं को देवता की उपाधि प्राप्त होती रही और सामंतों एवं अन्य सम्पन्न वर्गों के द्वारा किए जा रहे जघन्य अपराध के सामने मुँह खोलना पाप समझा जाता रहा। यह बात ठीक है कि इस मानसिकता के साथ भय एवं आतंक के भाव भी जुड़े होते हैं, पर जब भय एवं आतंक की स्थिति नहीं भी होती है तब भी उनके प्रति कहीं-न-कहीं बड़प्पन के भाव रहते ही हैं। ये तीनों आचरण की दृष्टि से कैसे हैं, यह बाद की बात है, इससे पहले

यह बात है कि इनके पास सम्पन्नता है। जिसके बल पर जनता को रौंद दिया जाता है। आज प्रजातंत्र की संकल्पना इस मानसिकता को बदलने में काफी अच्छी भूमिका निबाह रही है और यही कारण है कि अशोक वाजपेयी ने प्रजातंत्र संकल्पना की अनिवार्यता को विश्लेषित करते हुए निष्कर्ष निकाला कि "मनुष्य का सबसे स्थायी प्रजातंत्र है जिसमें स्वतंत्रता है, समानता है और सबके लिए जगह है। वह समय देखता है और उसके पार भी।"[७] लेकिन आज भी हमारे प्रजातंत्र में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो सम्पन्नता को परमात्मा का वरदान मानते हैं। उनको यह बात कतई समझ में नहीं आती कि सम्पन्नता का कारण सैकड़ों-हजारों वर्षो से चली आ रही शोषण प्रक्रिया है। जिस दिन यह बात लोगों की समझ में आ जाएगी, उस दिन शोषकों के ऊपर चढ़ा मर्यादा का आवरण उतर जाएगा और इससे समाज में नई स्थिति निर्मित होने लगेगी।

प्रदर्शन से एक व्यक्ति की श्रेष्ठता स्थापित होती है तो दूसरे की निम्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है और मनुष्य को अपनी श्रेष्ठता की स्थापना से जितना सुख होता है उससे अधिक सुख सामनेवाले की निम्नता से होता है, इसलिए वह जीवनभर ऐसे कामों को पूरा करने में लगा रहता है। कबीर इसी स्थिति को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि अपने आपको राजा और दूसरे को रंक बतानेवाले को याद रखना चाहिए कि मृत्यु कहीं भी आ सकती है। जिस शरीर एवं भवन के आधार पर स्वयं की श्रेष्ठता की घोषणा जोर दे-देकर की जा रही है, वह 'भवन से बाहर किसी अनजान वृक्ष के नीचे हड्डियों की ढेरी में बदल जाता है, यानी प्रदर्शन के आधार पर मृत्यु को नहीं जीता जा सकता। उनके पास अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ता के कारण उत्पन्न अहंकारों को परिमार्जित करने का यही साधन है। समसामयिक समाज का मानसिक विकास मध्यकालीन समाज से बहुत आगे तक हो चुका है, इसलिए यह मरणवाली बात सुनने के लिए तैयार नहीं है, पर इसके ऊपर संविधान का अंकुश है और आयकर का आतंक काला बाजारी करनेवाले पर छाया रहता है और वे एक से एक चाल चलकर और पैंतरे बदलकर आयकर हजम कर जाते हैं और इस तरह कामयाबी हासिलकर दनदनाते नजर आते हैं। लेकिन क्या वे मरण से बच पाते हैं? आप कहेंगे कि मरण तो सभी के लिए है, इसलिए ये भी मरते हैं। इस बात

को सीधे नकारना मुश्किल है, पर इसकी तह में जाने पर जरा भी संदेह की गुंजाइश नहीं रहती कि ये सम्पन्नता के कारण ही सबसे अधिक बेमौत मारे जाते हैं। गाँधी जी ने कहा था कि हमारे देश मे जितने लोग भूख से नही मरते उनसे बहुत अधिक खाने से मरते हैं। ये खूब ठूँस-ठूँस कर खानेवाले सबसे अधिक बीमार और अशांत हैं। इसलिए अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ से सुदृढ़तम बनाने के लिए आयकर मारनेवालों को मरण की मार से बचने का भी उपाय सोच लेना चाहिए, तभी अर्थव्यवस्था से शाश्वत आनंद प्राप्त होना संभव हो पाएगा!

साँचे सौदा कीजिए अपने मन में जानि।
साँचे हीरा पाइए झूठे मूरौ हानि।।[८]

कबीर की अर्थसंबंधी संकल्पना के विकास में सत्य का सबसे बड़ा महत्त्व है, इसलिए वे अर्थोपार्जन के साथ यह शर्त लगा देते हैं कि जो व्यक्ति अर्थोपार्जन करने चला है वह इस बात पर अच्छी तरह विचार कर ले कि जिस माध्यम से अर्थोपार्जन होगा उसमें सत्य है या नहीं और यह शर्त सबसे पहले उन्ही पर लागू होती है। वे जुलाहागीरी से जो धन कमाते हैं उससे उन्हें परम संतोष होता है और वे अपने पेशे में इतने मग्न हो जाते हैं कि बराबर बुनकर से जुड़ी क्रियाओं को अप्रस्तुत विधान के रूप में चित्रित करते हैं। जब वे कहते हैं तब चादर बुनने के काम के साथ जो सुख जुड़ा हुआ है वह भी प्रकट होता है। सरदार पूर्ण सिंह ने 'मजदूरी और प्रेम' निबंध में स्पष्ट किया है कि मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है।"[९] इसलिए कबीर ने सच्चे परिश्रम से प्राप्त होनेवाले धन को हीरा कहा है और परिश्रम को छोड़कर झूठ-फरेब के माध्यम से धन कमानेवाले को हानि होती है।

'अपरिग्रह' का अर्थ होता है—'आवश्यकता से अधिक धन न लेना' और कबीर न केवल कविता में यह बात कहते हैं, बल्कि उनका जीवन ही इस पर आधारित है; इसलिए वे कहते हैं—

साधु गाँठ न बाँधई उदर समाना लेय।
आगे पीछे हरि खडे जब माँगे तब देय।।[१०]

यदि आज किसी विधि समाज को आवश्यकता से अधिक धन के संग्रह से रोक दिया जाए तो समाज का ढाँचा बदल जाएगा। हमारे देश में न तो संसाधनों का अभाव है और न श्रम-शक्ति की कमी, लेकिन देश का विकास जिस रूप में होना था उस रूप में क्यों नहीं हो रहा है। यदि मोटे लोगों के द्वारा देश-विदेश के बैंकों में रखी जानेवाली मोटी रकम को ईमानदारी से उजागर करने की प्रक्रिया तेज कर दी जाती है तो वह रकम देश की हो जाएगी और उससे विकास को बढ़ावा मिलेगा। समाचार पत्रों में विदेशी बैंकों में धन जमा करनेवाले महानुभावों, के बारे में खबर आती है और कुछ दिनों के बाद वह बासी हो जाने से भुला दी जाती है। आयकर विभाग बड़े जोरशोर से 'मोटे लोगों' में से किसी के घर, कंपनी, फॉर्म हाउस आदि पर एक साथ छापे मारता है पर धीरे-धीरे मामला ठंडा पड़ जाता है। सच तो यह है कि समाज अपरिग्रह के भाव को कहीं भी महत्त्व नही देता; इसलिए राजा-रंक, अमीर-गरीब और बड़े-छोटे सभी धन जोड़ने की जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। भला इस समाज से आर्थिक शोषण मिट पाएगा?

साधु भूखा भाव का धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरै सो तो साधु नाहिं।।[११]

कबीर ने धन से अधिक श्रेष्ठ भाव को महत्त्व देते हुए स्पष्ट किया कि सात्विक जन धन के लिए हाय-हाय नहीं करते और जो करता है वह साधु नहीं हो सकता। उनके समाज में और आज भी अधिक से अधिक धन प्राप्त करनेवाले हैं जिनके द्वारा जहाँ एक ओर शोषण को बढ़ावा मिल रहा है वहीं दूसरी ओर निर्धन सात्विक जनों का तिरस्कार हो रहा है और इसके कारण समाज में एक ऐसा वातावरण बनने लगता है जिसमें आचरणवान लोगों को उत्साहित करने का कोई अवसर नहीं होता। उलटे लोग एक-दूसरे को समझाने लगते हैं कि ईमानदार बनने से क्या मिलता है? ईमान को क्या खाया जाए? अब जमाना बदल गया है, इसलिए इस बदलाव के साथ खुद को भी बदलने की जरूरत है और यहीं आकर जीवन-दृष्टि में विघटन शुरू होता है। समाज में धीरे-धीरे न केवल सामाजिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठताएँ विघटित होने लगी हैं, अपितु अर्थोपार्जन विषयक दृष्टि में भी परिवर्तन आने लगता है। आज यदि कबीर की इस कविता को सामने रखकर समाज के 'बड़े

लोगों' के जीवन को देखा जाए तो ये कहीं भी बड़े नहीं हैं; क्योंकि ये धन के भूखे हैं भाव के नहीं-

साईं इतना दीजिए, जा में कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।[१२]

यह है कबीर की आर्थिक दृष्टि का मुख्य उद्देश्य जिसमें वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न है। वे हाड़तोड़ मेहनत करके साधन इकट्ठा करते हैं, पर उन्हें केवल अपने परिवार का पेट पालना मंजूर नहीं है, इसलिए वे साधु जनों को भी बिना खिलाए वापस होने देना नहीं चाहते। यहाँ कबीर की आर्थिक दृष्टि सामाजिक दृष्टि से इस तरह घुल-मिल गई है कि दोनों की निजता का अंत हो गया। भक्ति आंदोलन के कारण साधुजन कहलाने का अधिकार धर्म, वर्ण, जाति, भाषा, स्थान आदि के आधार पर प्राप्त नहीं होता था। इन सबों से अधिक महत्वपूर्ण विवेक था जिसके आ जाने पर कोई भी व्यक्ति साधु कहला सकता था और यह बात सबसे पहले कबीर पर लागू होती है और उन्हें मालूम है कि विवेक के आधार पर ही ज्ञान-अज्ञान का भेद समझा जा सकता है और जो व्यक्ति ज्ञान को अपना लेता है उसकी समाज में व्याप्त अज्ञानजन्य दृश्यों से पटरी नहीं बैठती और इसके चलते उसके ऊपर समाज में विराजमान परंपरा-पोषकों के प्रहार शुरू हो जाते हैं। इस स्थिति में उस ज्ञानी पुरुष को समाज की ओर से तिरस्कार के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है? इसलिए कबीर ने इसकी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने की बात की। हमारे समसामयिक समाज की स्थिति भी कबीर के समाज की स्थिति की तरह ही है। उनके समाज में साधुजन को धर्म का शत्रु बताया जाता था और आज उसे पिछड़ा कहा जाता है। आज भूमंडलीकरण के नारे में समाज में बचे-खुचे कुछ अच्छे लोगों की बात गुम होने लगी है। अब तो स्थिति ऐसी बनती जा रही है कि आपने किसी सम्पन्न व्यक्ति के खिलाफ जुबान खोली नहीं कि बरबाद हुए। संविधान के द्वारा समाज की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है और सुरक्षा अधिकारी अपने कर्तव्यों के पालन के लिए उपस्थित भी रहते हैं, पर अपराधी अपने काम को अंजाम देकर निकल जाता है। दरअसल अपराधी सम्पन्न वर्ग के इशारे पर चलता है जिसकी

प्रशासन से लेकर ऊपर तक के विधाताओं से साँठगाँठ होती है और इस स्थिति में सत्य कहनेवाले को मौत के घाट उतार दिया जाता है। यह बात केवल नगरों-महानगरों तक ही सीमित नहीं है। इसकी परिधि में गाँव भी समा चुके हैं। यदि मेरी बात पर यकीन न हो तो संजीव, मिथिलेश्वर, मैत्रेयी पुष्पा, वीरेंद्र जैन, मनमोहन पाठक, कमलाकांत त्रिपाठी, भगवानदास मोरवाल आादि में से किसी का उपन्यास देख सकते है।[१३] इसलिए साधुजन की बात के लिए समाज में कोई कोना भी नहीं बचा है। तभी तो समाज में निज की सम्पन्नता के लिए प्रायोजित कार्यक्रमों का नित आयोजन होता रहता है। आप समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति किसी की तह में जाकर देखने की कोशिश करें, आपको सभी जगह आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने की दौड़-भाग मिलेगी।

लेकिन यह स्थिति केवल आज की ही नहीं है, कबीर के समाज में भी यही सब होता था और इसलिए उन्होंने आर्थिक सुदृढ़ता से उत्पन्न होनेवाले प्रदर्शन को रोकने के लिए विवेक-दृष्टि को अपनाने का परामर्श किया। अतः सिद्ध होता है कि कबीर ने अपने समाज के सम्पन्न वर्ग की निंदा न तो अपनी विपन्नता के कारण की और न ही विरक्त संत होने के कारण।

संदर्भ :

१. इस संबंध में राजेंद्र यादव का यह कहना सार्थक है कि "साहित्य की अवधारणा पर बहस की प्रक्रिया में यह निष्कर्ष उभरता है कि जो दुःखी, वंचित और उपेक्षित हैं—साहित्य उन्ही का पक्ष लेता है। यह बात हमारे संस्कार में शुरू से ही उड़ेली गई है कि साहित्य की रचना सामाजिक विसंगतियों को लेकर ही होती है चाहे वह 'सिद्ध साहित्य' हो अथवा 'संत साहित्य'। यह हमेशा दीन और दलित के पक्ष में ही बोलता है। शायद यही वजह है कि हिंदी साहित्य में जब-जब अवरोध आया है, उसे दलित साहित्यकारों ने ही नया मोड़ दिया है। संत साहित्य का अधिकांश हिस्सा, जो साहित्य की दरबारी संस्कृति के खिलाफ लिखा गया, दलितों द्वारा रचित है।", संपादक-श्यौराज सिंह, 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य', नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, बिहार, संस्करण २००१, पृ. १२२

२. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, 'भारत का इतिहास', शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १९८४, पृ. २७३

३. परशुराम चतुर्वेदी, 'संतकाव्य', किताब महल, इलाहाबाद, १९५२, पृ. १९५

४. पारसनाथ तिवारी, 'कबीर-वाणी संग्रह', राका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८९, पृ. ६५
५. "कबीर की साधना सामाजिक साधना न होकर वैयक्तिक साधना थी और वे व्यक्तिगत उत्कर्ष की दृष्टि से ही कविता करते थे।"—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'हिंदी साहित्य का अतीत' (भाग-१), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९४, पृ. १६०-६१
६. पारसनाथ तिवारी, 'कबीर-वाणी संग्रह', पृ. १७९
७. 'बहुवचन'-३, त्रैमासिक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, पृ. ८
८. संपादक-पूरनचंद टंडन, 'कबीर-मंजूषा' नीता प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. २७५
९. संपादक-श्यामसुंदर दास, 'हिंदी निबंध- रत्नावली' (पहला भाग), इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४९, पृ. १५६
१०. 'कबीर-मंजूषा', पृ. २७८
११. वही, २७९
१२. संपादक-श्रीकृष्ण दास, 'हिंदी काव्य प्रवाह' मित्र प्रकाशन प्रा.लि., इलाहाबाद-३, १९६४, पृ. १८१
१३. "राजनीतिक पतन और व्यवस्थागत विसंगतियों ने भारतीय जनमानस को अत्यधिक आहत कर दिया है। सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते राजनीति से 'नीति'पूर्णतः लुप्त हो गई है। इसने विकास का अत्यधिक दोहन किया है। बीसवी सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों में भ्रष्ट व्यवस्था और पतनोन्मुख राजनीति का व्यापक रूप में अंकन हुआ है। राजनीति ने गॉवों का सहज, सरल और निर्मल जीवन बाधित कर दिया है। राजनीति से विकास तो दूर लेकिन वहॉ दलबंदी, टुटन और संघर्ष बढ गया है। गॉव की सामुहिकता बिखर गई है।"—संपादक प्रमथ राज सिंह, 'नई धारा' (जून-जुलाई, २००५), पटना, पृ. ४४

प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगड़ - १६० ०१४

भक्तिकालीन संतों का समाज-कार्य

—शालिनी मिश्र

समाज-कार्य मूल रूप से विपन्न, गरीब और दुखी व्यक्ति के उद्धार और बेहतर जिंदगी देने के प्रयास से जुड़ा रहा है। मूल रूप से यह धार्मिक सदिच्छा के रूप में चला। यह धार्मिक सदिच्छा की प्रवृत्ति पश्चिम से लेकर भारत तक में थी। इसे नैतिकता का आधार प्रदान किया गया और दान-दया के सत्कर्मों से जोड़कर व्यक्ति के अलौकिक उद्धार के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा गया। यही नहीं ,इसके साथ पाप-पुण्य की भावनाएँ भी जुड़ी। एक तरफ समाज ने गरीबों, असहायों और निर्बलों के निर्माण में अपनी भूमिका निभाई तो दूसरी तरफ उनकी मदद के माध्यम से सत्कर्म की मानवीयता का प्रदर्शन किया। बाद में चलकर पश्चिम में यह समाज-कार्य सहकारी कार्यक्रमों के साथ जुड़ा और उसमें विभिन्न प्रकार की वैयक्तिक और सरकारी संस्थाओं का भी योगदान रहा। भारतवर्ष में भी धर्म के साथ यह कार्य आरम्भ से ही चलता रहा है। लेकिन आम मनुष्यों के गर्हित जीवन के लिए मनुष्य ही जिम्मेदार रहा। वर्णाश्रम व्यवस्था से लेकर जाति-पाँति तक की व्यवस्था में धर्म की ही भूमिका रही। एक विशेष बात जो इस देश की अपनी विशिष्टता थी– 'छुआछूत' उसे धर्म ने ही इस देश को दिया। अतः गरीबों के कल्याण की जितनी भी प्रक्रियाएँ थीं वे सब उच्च वर्ग के लोगों के मोक्ष, बैकुंठ आदि तक पहुँचने में सहायक मात्र थीं। इस प्रकार धर्म की जो उच्च मानवता की भावनाएँ थीं वे केवल नैतिक सदासयता की पृष्ठभूमि मात्र बन गयी थीं ।इस उच्च मानवता के बावजूद कभी भी सामाजिक विभेद खत्म नहीं हुआ। अतः दान,दया की नैतिकता केवल आदर्श, धार्मिक सदासयता बनकर रह गई। समाज में आमूल परिवर्तन की अपेक्षा बराबर बनी रही। समाज में ही परिवर्तनकामी आन्दोलन व्यापक सामाजिक हित और राष्ट्रहित के रूप में चलते रहे।

समाज कार्य के इतिहास में प्रत्येक देश में राजनीतिक प्रयासों की भी चर्चा की गई है। प्रत्येक शासन व्यवस्था में किसी न किसी रूप में मानवकल्याण की योजनाएँ बनती रहीं लेकिन वे सब के सब प्रशासनिक कार्य-प्रणाली की योजनाएँ

मात्र थीं क्योंकि उनके बिना प्रशासन चल ही नहीं सकता। प्रशासनिक स्तर पर अन्याय अत्याचार और शोषण की घटनाएँ चलती रहीं। इन घटनाओं का सम्बन्ध उन्हीं लोगों से था जिनके कल्याण की बात प्रशासनिक स्तर पर की गई थी। विदेशों में भी एक तरफ प्रशासनिक समाज-कार्य की प्रक्रियाएँ थीं तो दासप्रथा जैसी घिनौनी व्यवस्था भी प्रशासन द्वारा मान्य थी। कुछ व्यक्तिगत संवेदनशील व्यक्तियों द्वारा समाज-कार्य की संस्थाएँ भी बनीं जिन्हें सरकार की मान्यता प्राप्त थी । भारत में सरकारी मान्यता से भिन्न संस्थाएँ और व्यक्तिगत प्रयास की प्रक्रिया समाज-कार्य के रूप में बढ़ती रही है। गैरसरकारी संस्थाएँ आज सरकारी पंजीयन के साथ अपने संस्थागत उद्देश्यों के क्रम में कार्य करती हैं। इसके अलावा सरकारी व्यवस्था समाज कल्याण के बिना चल ही नही सकती, लेकिन यह बात दूसरी है कि वह कितनी कारगर है। समाज सुधार और कल्याण के वैयक्तिक प्रयास भी चलते रहे हैं।

प्राचीनों ने मानवीय उच्च गुणवत्ता, सदासयता और पाप-पुण्य के आधार पर अनेक समाज कल्याणमूलक समाज-कार्य करने की बात उठाई। विशेष करके भारतवर्ष में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसी उदार मानवीय घोषणा की गई। यही नहीं सारी सृष्टि की रचना के मूल में एक ईश्वर को माना गया लेकिन उसी सृष्टि की मानवता ने मानव को विभेदों में, जातियों, उपजातियों में और छुआछूत की भावनाओं में बाँट दिया। वसुधा के कुछ लोगों ने ज्ञान, उपलब्धि और उपभोग में सारा अधिकार अपने हाथ में ले लिया। शेष लोगों को स्तर-भेद के साथ अछूत, त्याज्य बनाया। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और अन्य जीवन मूल्यों से वंचित रखा। उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार और शोषण की अंतहीन कहानी चलती रही। समाज-कार्य की उच्च मानवीय भावभूमिपरक सदासयता का आदर्श, उद्घोष भी चलता रहा। चारों तरफ समाज में अज्ञानता, विसंगति, अजनबीयत का बोलबाला था। सामन्ती और उच्च वर्ग के अलावा सभी अधिकारच्युत थे। भाग्य और पुनर्जन्मवाद की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार के विरोध किए जाने की गुॅंजाइश नहीं थी। फलतः सरकारी और परम्परित धार्मिक व्यवस्था से इतर सामाजिक उन्नयन, सुधार और अधिकार प्राप्त करने के संदर्भ में अनेक आंदोलन हुए। ऐसे आन्दोलनों ने एक व्यापक लोकचेतनात्मक संवेदना से ही अपने को तैयार किया।

अपने सिद्धान्तों, विचारों और युगीन अपेक्षाओं के सन्दर्भ में अपना संगठन तैयार किया एवं जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन की अपेक्षा में वे समाज-कार्य करते रहे।

संतों के क्रांतिकारी आंदोलन तक पहुँचते पहुँचते राष्ट्रव्यापी समाज-कार्य की एक अपेक्षा तैयार हो चुकी थी। यह वैज्ञानिक चेतना के आधार पर और व्यापक मानवीय संवेदना के साथ आन्दोलन चला था जो न वैयक्तिक था न संस्थागत और न उसे राज्य की मान्यता प्राप्त थी,लेकिन वह आन्दोलन राष्ट्रव्यापी था। आम आदमी के शोषण, अन्याय, अत्याचार, दुःख और वेदना के परिप्रेक्ष्य में यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन व्यापक समाज कार्य के रूप में चला था जिसमें व्यक्तिगत सुधार, सहायता और दान की प्रक्रिया का बिल्कुल विरोध था। सच तो यह था कि यह वैज्ञानिक चेतना की उपलब्धि के साथ स्वस्थ एवं मानवीय मूल्यों से पूर्ण समाज और राष्ट्र के निर्माण का आन्दोलन था जो स्थान-स्थान पर एक महान क्रान्तिकारी समाजचेता, आत्मबली, साहसी तथा समग्र जीवन के यथार्थ बोध से परिपूर्ण व्यक्तियों के रचनात्मक प्रयास के साथ शुरू हुआ और एक साथ ही देश के भिन्न-भिन्न कोनों में रचनाधर्मी मानव उस वैज्ञानिक क्रांतिकारी चेतना से प्रभावित हुए और अपनी अपनी भाषाओं में अपने -अपने क्षेत्र में, गैर संस्थागत सम्पर्क के साथ एक व्यापक राष्ट्रीय सम्पर्क की भूमिका में अपना सामाजिक कार्य करते गए और उसका चेतनात्मक रचनाधर्मी प्रयोग प्रतिपादित हुआ। गुजरात में नरसी मेहता से लेकर पंजाब में नानक,उत्तर भारत में कबीर, दादू,पलटू,दरिया दास,रविदास,गरीब दास,रज्जब, असम में शंकर देव और उड़ीसा में पंचसखाओं (बलराम, जगन्नाथ, अच्युत, अनन्त यशोवंत) के द्वारा यह व्यापक राष्ट्रीय समाज-कार्य साहित्यिक सृजनशीलता के माध्यम से आरम्भ हुआ जिसने अपनी अपनी लोक-भाषाओं में अपनी सामयिक वैज्ञानिक चेतना के माध्यम से पूरी लोकचेतना को सम्वर्धित किया और उसे चेतनात्मक स्तर पर जागरूक किया। इन संतों का वैचारिक आदान-प्रदान धार्मिक केन्द्रों के साथ या यात्राओं के साथ बराबर चलता रहा। भारतवर्ष में पुरी का जगन्नाथ धाम विविध आन्दोलनों का केन्द्र भी बन रहा था जहाँ पर पंचसखाओं की रचना और साधना का क्षेत्र था। यदि पुरी मंदिर में आज भी इन पंचसखाओं के ग्रंथों के आगार को 'गादी' कहते हैं तो हिन्दी प्रदेश में हरिजन किसी बुजुर्ग के मरने

पर जिन 'सन्तउ' गाने की व्यवस्था करते हैं उसे वे 'गादी' बैठना ही कहते हैं। कितना साम्य है इन दो भाषाओं के शब्दों में। पलटू दास ने एक जगह ब्राह्मणों के अत्याचार को घोषित करते हुए अपने को जगन्नाथ मंदिर तक पहुँचाया है। उन्होंने कहा है—

अवधि पुरी में जरि मुए, दुष्टन देइ जराय
जगन्नाथ की गोंद में, पलटू बैठे जाय।

निश्चय ही यह अयोध्या से उड़ीसा तक समान भाव-भूमि परक यात्रा है। यह गैर सरकारी समाजपरक कार्य सम्बन्धी आन्दोलन राष्ट्रव्यापी था जिसे न राजा का कोई आश्रय प्राप्त था बल्कि राजव्यवस्था के विरोध से भी इस समाजकार्य का विरोध था। यह आंदोलन राष्ट्रव्यापी और व्यापक मानवीय आंदोलन था एवं सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा हुआ था और चेतना के संदर्भ में बहुआयामी था। यह उतना ही व्यापक था जितना कि आधुनिक काल में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रुद्र समाज आदि का राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसने भारतीय धर्म व्यवस्था को एक नए सिरे से देखा तो राजनैतिक विरोध ही नही उसके परिवर्तन के साथ भी अपने को जोड़ा।

भक्तिकालीन संतों का यह क्रांतिकारी चेतनात्मक आंदोलन व्यापक मानवीय भूमिका पर था जिसमें समाज की यथास्थिति की पूर्णतः चिंता थी और भावी सम्भावनाओं के सन्दर्भ में भावी मूल्यों से युक्त जीवन की तलाश थी। इस पूरी प्रविधि में आम आदमी की वेदना ही कारगर थी। सारा समाज दुखाक्रान्त था जिसका अनुभव इन संतों को था। कबीर जैसे संत ने महसूस किया था कि पूरे समाज में आग लगी है—

जित देखूँ तित दौ लगी, जित भागूँ तित आँच।

किसी भी समाज कार्य के लिए यह बुनियादी आवश्यकता है कि वह उस समाज की वास्तविकता से परिचित हो। इन संतों को अपने युग का यथार्थ बोध सम्यक रूप में था। वे जानते थे कि यहाँ का हर आदमी हर क्षेत्र में दुखी है और वह जहाँ भी जाता है वह कष्ट उसका पीछा करता है बल्कि उसके पैदा होने से पहले ही उस समाज में उसकी वेदना का कारण पहले से ही मौजूद है सामाजिक

अव्यवस्था के रूप में। इसीलिए कबीर जैसा संत उद्घोषित करता है—

जदि का माई जनमियाँ, कबहूँ न पाया मुख।
डाली-डाली मैं फिरौं, पातौं-पातौं दुख।१

ये संत परम्परित दया, माया, ममता से आगे मनुष्य की सामाजिक माँग के रूप में उसके सुख की कामना करते हैं। वे मनुष्य को एक ऐसा मनुष्य बनाना चाहते हैं जो पूरे आत्मबल के साथ अपने अन्याय का विरोध कर सके। मनुष्य को सही मनुष्य बनाने के क्रम में इनके समाज-कार्य की चेतनात्मक भूमिका चलती है जो सुधारों से आगे व्यवस्था परिवर्तन का आन्दोलन बन जाता है। वे उद्घोषित करते हैं—

भीख न मांगैं संतजन कही गये पलटूदास।
हंस चुगै न घोघी, सिंह चरै न घास। २

इन संतों को अन्त्यज वर्ग के उस यथार्थ दुख का पता था। समाज और धर्म की व्यवस्था के बीच यह सारा अन्त्यज वर्ग पिस रहा था। कोई उससे बचा नहीं था। कबीर ने इसका पूर्ण अहसास किया था—

चलती चक्की देखि के नयनन आया रोय।
दो पट भीतर आय के, साबुत गया न कोय।।३

इस चेतना को प्राप्त कर लेने वाला संवेदनशील व्यक्ति बड़े आक्रोश के साथ अपना सर्वस्व त्यागकर आमूल परिवर्तन के लिए चल पड़ता है क्योंकि समाज कार्यकर्ता के लिए अपना स्वार्थ प्रधान नहीं होता वह समाज के स्वार्थ की चिंता करता है यही उसकी श्रेष्ठता है। संत कबीर भी घोषित करते हैं—

हम घर जाल्या आपणा, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जाल्यौं तास का, जे चलै हमारे साथि।४

यहाँ निःस्वार्थता समाज-कार्य की अनिवार्य भूमिका है।

आधुनिक समाज-कार्य और संस्थाएँ आज भी महसूस करती हैं कि भारतीय समाज में यह सबसे बड़ी दिक्कत होती है कि अधिकांश लोग अपनी रूढ़ियों और परम्परित मान्यताओं से इस प्रकार घिरे हैं कि वे वैज्ञानिक विचारों को मानने के लिए प्रायः तैयार ही नहीं होते। कभी-कभी समाज कार्यकर्ताओं को वे इन्कार भी

कर देते हैं। उनसे विरोध के बावजूद सच्चे समाजकर्ता को अपने कार्यक्रम को आगे बढ़ाना पड़ता है, वह पीछे नही हटता। उन्हीकी भूमिका में संत कहता है—

आगे चलिके पीछे चलिहौं ह्वैहैं जग में हांसि।

ये संत कभी पीछे नहीं हटना चाहते थे। इन संतों ने यह भी महसूस किया कि जड़ यथास्थितिवादी अन्त्यज वर्ग अपने दुख और विपन्नता में भी निष्क्रिय और निश्चिन्त सो रहा है जब कि संत उनके दुख से दुखी है—

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।५

इन संतों ने समझा था कि परिवर्तन अपेक्षित है, समाज में भी इतनी जड़ता है कि वह परम्परित धूर्तता को ही सच मान बैठा है—

पलटू मैं कासे कहौं, कुआँ पड़ी है भंग।
झूठे में सब जग चला, छिल छिल जाता अंग।६

इन कवियों को ऐसा यथास्थितिवादी समाज अंधों के गाँव जैसा लगता है-

अंधरन केरि बाजार में गया एक डिठियार।
अहमक आये आजु सबै मिलि तारी लाये।
डारो आँखि फोरि रहौ तुम हमरी नाई।
- - - - - - - - - - - - - - - - - -
सब अंधरन मिलि अंध-अंधणा को ठहरायी।
जहवा लाखन अंध एक क्या करै बिचारा।
सुनै बाकी कोऊ तहाँ डिठियारै हारा।
पलटू दास यहि बात को कोऊ न करे बिचार।।७

निश्चय ही इन संतों को अपने समाज-कार्य में इस तरह की समस्याएँ झेलनी पड़ी थीं। समाज में विभिन्न प्रकार की समस्याओं को उन्होंने झेला था। लेकिन वे कर्मनिष्ठ, आत्मबली संत अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गए। यद्यपि सभी संतों ने अपना सारा कार्यक्षेत्र गाँव में ही स्थापित किया क्योंकि विपन्नताएँ और विभेद गाँव में ही था। वैचारिक जड़ता भी वहीं थी। इन आंदोलनों के सम्प्रदाय होने के बाद लगभग सारे मठ गाँवों में ही बने । इन संतों का सारा चेतनात्मक प्रयास

रचनात्मक स्तर पर हुआ। इसके अलावा सामाजिक परिवर्तन और जीवन मूल्यों के विकास के सन्दर्भ में इनके समाज-कार्य की भूमिका उपदेशों के रूप में चलती रही। उपदेश भी उनकी कविताओं के साथ जनसामान्य की स्मृति में छोड़ दिए जाते थे। निश्चय ही उनका समाज-कार्य उपदेशात्मक रचनाधर्मी चेतना का रूप ग्रहण करके आया।

समाज-कार्य की भूमिका में एक अनिवार्यता भाषा की होती है। जिस समाज में समाज-कार्य हो रहा होता है उस समाज के बोध की भाषा में ही समाज-कर्ता को वैचारिक विनिमय करना चाहिए। इसके बिना समाज-कार्य के संदर्भ में चेतनात्मक आदान प्रदान कठिन हो जाता है। आज भारत में बहुत सी सरकारी संस्थाओं और समाज-कार्य संबंधी संस्थाओं की यह विडम्बना है कि उनके कार्यकर्ता विभिन्न ग्रामीण अंचलों में उनकी भाषा में बातचीत न करके अंग्रेजी में बोलना अपनी श्रेष्ठता समझते हैं। इन संतों ने इस आवश्यकता को अच्छी प्रकार समझा था,इसीलिए अपनी लोकभाषाओं में ही अभिव्यक्ति दी थी। यही नहीं लोकछंदों और लोकगीतों की शैली में अपनी अभिव्यक्ति दी ताकि उस क्षेत्र के अपढ़ से अपढ़ लोग भी उनकी चेतना से अवगत हो सकें ताकि उनका लक्ष्य पूरा हो सके।

भक्तिकालीन संतों ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व दार्शनिक सभी सांस्कृतिक मूल्यों के सन्दर्भ में अपने युगानुकूल आमूल परिवर्तन की कोशिश की और उन्हें नया सन्दर्भ दिया। एक साथ ही उन्हें अन्त्यज वर्ग की स्थिति सुधारने हेतु राजन्य वर्ग और सामंती संस्कारों में पले उच्च वर्ग के लोगों के साथ संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने हर क्षेत्र में एक ऐसे मूल्यात्मक व्यवस्था की खोज की जो समग्र भारतीय जीवन को समता पर आधारित मूल्यवान जीवन दे सके। समाज में निम्न वर्ग से लेकर नारी के जीवन तक के सन्दर्भ में इन संतों ने चिंता की और उन्हें 'मानव' बनाने की चेष्टा की। इस सन्दर्भ में उन्हें पारम्परिक धर्म की आलोचना करनी पड़ी, जड़ रूढ़ियों के प्रति भी ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने धर्म की तमाम मान्यताओं को इंकार करके एक गतिशील मूल्यात्मक धर्म का विकल्प दिया। भारतीय समाज की रूढ़ियों को दूर करने के लिए यह युगीन अपेक्षा थी। आज भी समाज-कर्मी को इस प्रकार की धार्मिक रूढ़ियों से लड़ना पड़ता है। इन संतों का

समाज-कार्य उपदेशात्मक, वैज्ञानिक, चेतनापरक समाज-कार्य की भूमिका में आता है जो वैयक्तिक प्रयास से राष्ट्रीय प्रयास बन जाता है। यही नहीं पूरी मानवता से वह सम्पृक्त होता है जिसकी पृष्ठभूमि में आज हम वैज्ञानिक युग के अस्तित्व को देखते हैं। इनका सारा समाज-कार्य उन संतों के रचनाधर्म में मूल्यात्मक बन कर आया है। अतः उनके समाज-कार्य का स्वरूप केवल क्रियात्मक नहीं अपितु मूल्यात्मक रहा है जिसमें सारे सांस्कृतिक मूल्य सन्निविष्ट होते हैं। अपने समय की भूमिका में यह एक व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन हो चुका था जिसमें सांस्कृतिक जागरण की प्रक्रिया सन्निहित थी। उनका समाज-कार्य इस मूल्यात्मक संदर्भ में राष्ट्रीय स्तर पर एक व्यापक समाज-कार्य था। इस संदर्भ में संतों का अध्ययन करने पर उनकी सही सामाजिक भूमिका का निदर्शन किया जा सकता है। यह संतों के अध्ययन का नया संदर्भ होगा और उनकी प्रासंगिकता की नयी पहचान होगी।

सन्दर्भ

१.कबीर साहेब का साखी-संग्रह, पृ.१८१ वेलवेडियर प्रेस इला.

२.पलटू साहिब की बानी, भाग-१ दोहा सं.२४० वेलवेडियर प्रेस. इला.

३.बीजक साखी सं.१२९, कबीर विचार प्रचार संघ, दरभंगा, टीका. बौआ साहब

४.कबीर ग्रन्थावली,पृ. ६७,पारसनाथ तिवारी

५.कबीर ग्रन्थावली,सं.श्यामसुन्दर दास,बिरह कौ अंग पृ.११,दोहा सं.३५

६.पलटू साहिब की बानी,वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद,दोहा-२०२

७.पलटू साहिब की बानी, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद,भाग-२ पद-१९४

प्रवक्ता, समाजशास्त्र विभाग, उदय प्रताप सिंह कालेज, वाराणसी-२२१००५, उत्तर प्रदेश

'जयभारत': मानव-महिमा का आख्यानक

–व्यास मणि त्रिपाठी

'साकेत' और 'जयभारत' मैथिलीशरण गुप्त की महान कृतियाँ हैं। एक का आधार-ग्रन्थ 'रामायण' है तो दूसरे का 'महाभारत' । दोनों ही नवीन उद्‌भावना और मौलिक कल्पना की दृष्टि से विशिष्ट और विलक्षण हैं। यदि 'साकेत' के राम इस भूतल को स्वर्ग बनाने (संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया/ इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया) का संकल्प प्रकट करते हैं तो 'जयभारत' के युधिष्ठिर भी इस धरती को भय, भूख, संताप और आधि-व्याधि से मुक्त देखना चाहते हैं–सब सुख भोगें, सब रोग से रहित हों/ सब सुख पावें, न हों दुखी कहीं कोई भी । वस्तुतः दोनों ही ग्रन्थ मानव कल्याण को प्रमुखता देते हैं। मानव प्रतिष्ठा के आख्यानक हैं, फिर भी साकेत की तुलना में 'जयभारत' को व्यापक स्वीकृति और समादर नहीं मिलना सुधी जन को अखरता है। पाठ्यक्रमों में 'जयभारत' की सम्मिलित का अभाव शायद उसकी इस अवस्था का एक बड़ा कारण हो सकता है। अध्ययन-अध्यापन की परिधि से बाहर होने के कारण इस ग्रन्थ को यथोचित सम्मान भले ही न दिया गया हो लेकिन भवभूति के समान यहाँ यह कहना अनावश्यक नहीं होगा कि काल निरवधि है, यह धरती विपुल है और कोई न कोई समानधर्मा इसके महत्त्व को अवश्य समझेगा, इसके मर्म का उद्‌घाटन करेगा। इसकी महानता का दुंदुभिनाद करेगा। उन संदेशों को प्रकट करेगा जो इस महाकाव्य में निहित हैं। जाहिर है–इसके संदेश शाश्वत हैं। स्थान और काल की सीमा से परे हैं। रचना के समय वे जितने युगानुरूप थे वे आज भी उतने ही अनुकूल और प्रासंगिक हैं।

'जयभारत' का आधार वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत है। उस विशाल कथानक में से गुप्त जी ने उन्हीं प्रसंगों या अंशों का चयन किया है जिनसे मूल कथा की अक्षुण्णता और गतिशीलता बनी रहे। अनावश्यक प्रसंगों या अन्तर्कथाओं की काट-छाँट से 'जयभारत' के उद्देश्य की पूर्णता में कही बाधा उपस्थित नहीं हुई है, बल्कि इससे युगानुरूप नवीन उद्‌भावनाओं की सृष्टि में सफलता मिली है। इस वृहद प्रबंध काव्य में राजा नहुष से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक की कथा

सैंतालीस सर्गों में वर्णित है। सर्ग का नामकरण सम्बद्ध व्यक्ति या घटना विशेष के आधार पर किया गया है। यह एक महान संकलन काव्य है। महाभारत के विभिन्न प्रसंगों पर गुप्त जी ने अर्द्धशताब्दी तक जो रचनायें की थीं, उनका किंचित संशोधन और परिवर्धन के साथ इसमें समावेश किया है। उन्हीं के शब्दों में "अपनी जिन पूर्व कृतियों के सहारे यह काम सुविधापूर्वक कर लेने की मुझे आशा थी, वह भी पूरी नहीं हुई। 'जयद्रथ वध' से तो मैं कुछ भी न ले सका। 'युद्ध का प्रकरण' ही मैंने और प्रकार से लिखा। अन्य रचनाओं में भी मुझे बहुत हेर-फेर करने पड़े। कुछ को नए सिरे से पूरी की पूरी फिर लिखनी पड़ी। तथापि इससे मुझे संतोष ही हुआ और इसे मैंने अपनी लेखनी का क्रम विकास ही समझा।" (जयभारत-निवेदन)। निस्सन्देह 'जयभारत' गुप्त जी की प्रौढ़ रचना है। इससे उनकी काव्य-यात्रा का क्रमिक विकास सूचित होता है। यद्यपि कथासौष्ठव की दृष्टि से 'जयभारत' में क्रमबद्धता और पूर्णता है फिर भी कथा-प्रवाह में तारतम्यता और एकरूपता का अभाव है। जिस प्रसंग में कवि का मन अधिक रमा है वहाँ कथा मंथर गति से आगे बढ़ी है और जहाँ किसी प्रसंग या अन्तर्कथा को समेटने की विवशता उपस्थित हुई है वहाँ कथाप्रवाह में क्षिप्रता आ गई है। कथा के संक्षेपीकरण में गुप्त जी ने अन्विति का ध्यान अवश्य रखा है,किन्तु इससे कथा का प्रवाह बाधित हुआ है और इससे रसभंग की स्थिति उत्पन्न हुई है।

प्रबन्ध रचना में वही सफल होता है जो अन्य विशेषताओं के साथ-साथ पुराख्यानों की नवीन उद्भावना में सक्षम हो। पुराकथा प्रसंगों की अवतारणा के द्वारा युग-धर्म की प्रतिष्ठा में कुशल हो। मैथिलीशरण गुप्त प्रबन्धपटु हैं। उन्होंने 'जयभारत' में 'महाभारत' के कई प्रसंगों/ घटनाओं की नवीन व्याख्या की है। कल्पना द्वारा उनकी नवीन प्रस्तुतियाँ की हैं। प्राचीन-अर्वाचीन के समन्वय द्वारा उन्हें युगानुरूप बनाया है। इस दृष्टि से 'नहुष-इन्द्र प्रसंग' 'यदु-पुरु प्रसंग' 'ययाति-प्रसंग' 'राजसूय' 'यादव-कुल संहार' आदि प्रसंगों को गुप्त जी ने आवश्यकतानुसार परिवर्तित-परिवर्धित कर नवीन संदर्भ प्रदान किया है। एकलव्य, हिडिम्बा, द्यूत, कुन्ती-कर्ण, द्रौपदी, सत्यभामा, युद्ध, स्वर्गारोहण आदि घटनाओं की कल्पना मिश्रित नवीन उद्भावनायें की हैं। इसके पीछे कवि का उद्देश्य मानवीय मूल्यों की वकालत

करना तथा मानवतावाद को प्रश्रय देना है। मानव की श्रेष्ठता का निदर्शन उसका काम्य रहा है।

'हिडिम्बा' गुप्त जी के रचना-संसार की ऐसी पात्र है, जिस पर स्वतंत्र काव्य रचा गया तथा 'जयभारत' में भी उसे नवीन रूप दिया गया है 'महाभारत' की हिडिम्बा विद्रूपता की प्रतिमूर्ति है। उसके प्रति पाठकों के मन में न तो सहानुभूती पैदा होती है और न ही कोई आकर्षण, जबकि 'जयभारत' की हिडिम्बा अपने रूप सौन्दर्य, बुद्धि-कौशल तथा गुणशीलता से सभी का ध्यान आकृष्ट करती है। गुप्त जी ने उसका रूप वर्णन इसप्रकार किया है—

"उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी
अंग मानों फूल, कचभृंग, हरी शारिका
कर-पद-पल्लवा थी, जंगम सी बाटिका।"

हिडिम्बा संवेदनशील, स्नेहशील और वाकचातुर्य की मूर्ति बनी उपस्थित होती है। वह भीम को इन्हीं गुणों के कारण सहज आकर्षित कर लेती है। 'भीम' उसे 'देवि' संबोधन से पुकार उठता है लेकिन जब वह अपने को 'दानवी' बताती है तब भीम जातिगत अहंकार में उसके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा भाव लाता है। हिडिम्बा भीम के अभिमान को ताड़कर ऐसे तर्क प्रस्तुत करती है कि उसे निरुत्तर होने के अलावा और कोई मार्ग ही नहीं सूझता है। हिडिम्बा के इस नवनिर्माण द्वारा गुप्त जी ने दलित, उपेक्षित और समाजबाह्य नारियों के प्रति समाज का ध्यान आकृष्ट किया है। ऐसा करके उन्होंने न केवल रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'काव्येर उपेक्षिता' के प्रति व्यक्त की गई विचारधारा को आत्मसात कर उपेक्षिताओं को सबलता के साथ प्रस्तुत किया है बल्कि उनकी विचारसरणि से आगे जाकर 'दानवी' को भी सबके स्नेह का भाजन बना दिया है। क्योंकि विश्वकवि टैगोर ने जिन काव्य-उपेक्षिताओं की ओर कवियों का ध्यान आकृष्ट किया था वे या तो राजकुल ललनाएँ थीं या अति विशिष्ट कोमल नारियाँ या राजकुमारियाँ। 'महाभारत' में भीम और हिडिम्बा का विवाह जाति, वर्ण और वर्ग की दृष्टि से अनमेल तथा लोक बाह्याचरण माना गया है जबकि गुप्त जी ने इस प्रसंग को युगानुकुल और

स्वाभाविक बना दिया है। आज ऐसे परिणाम समाज के लिए अकल्पनीय और अस्वाभाविक नहीं हैं। इतना ही नहीं गुप्त जी ने हिडिम्बा को एक साहसी और तर्कशील नारी के रूप में भी उपस्थित किया है। वह कुन्ती से कहती है—

"यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता
अपनी ही उच्चता में कैसी कृत कार्यता?
होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ
जन्म से मैं जो भी रहूँ जाति से तुम्हारी हूँ।"

इसमें उच्चादर्श तो निहित है ही। यह संदेश भी निहित है कि केवल उच्चता का दंभ भरना ही उच्चता नहीं है बल्कि अपात्र को भी सुपात्र बनाना आर्यत्व अथवा श्रेष्ठत्व की पहचान है। हिडिम्बा कुन्ती के समक्ष केवल आदर्श की बात नहीं करती बल्कि तर्क द्वारा अपनी पात्रता सिद्ध करती है जिसके फलस्वरूप उसे वधू का सम्मान मिलता है। पुराकथा का यह नूतन सृजन जहाँ एक ओर अनमेल विवाह को सामाजिक स्वीकृति और नैतिकता प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर भीम की वासनावृत्ति और कामुकता का परिशोधन भी करता है।

भीम हिडिम्बा का संवाद वर्तमान युग की बौद्धिक चेतना तथा सामाजिकता के अनुरूप है। भीम द्वारा अपने भाई का वध किये जाने पर जब वह कहती है- "वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं प्रेम है/ और इस विश्व का इसी में छिपा छेम है।" तब गांधी दर्शन विशेषतःअहिंसा सिद्धान्त मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है।

गुप्त जी को 'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः' में ही मानवता की प्रतिष्ठा दीखती है। इसका उद्घोष 'कुल से नही शील ही से तो होता है कोई जन आर्य' कर उन्होंने जाति-वर्ग के भेद-भाव को मिटाने का प्रयास किया है। साथ ही यह अभिव्यंजना भी की है कि कोई व्यक्ति जन्म से नहीं अपितु कर्म से बड़ा होता है। एकलव्य, कर्ण आदि के चरित्रांकन में गुप्त जी की यही दृष्टि प्रबल रही है। एकलव्य का गुरु द्रोणाचार्य से यह कहना—

"गुरुवर नहीं अराजन्यों में क्या ईश्वर का अंश
और नहीं है क्या उनका भी वही मूल मनु वंश।"

जन्मना बड़े-छोटे की मान्यता को ध्वस्त करने की तार्किक पृष्ठभूमि है। वर्तमान बौद्धिक चेतना का उन्मेष है। लघुमानव की प्रतिष्ठा का प्रयास है। गुप्त जी वर्ग-जाति के विरोध में एक ऐसा व्यक्ति रचते हैं जो अपनी योग्यता और प्रतिभा से सभी को निरूत्तर करने में सक्षम है। एकलव्य का रूपवर्णन भी नयनाभिराम है—

"कसी गँसी थी मांसपेशियाँ, श्यामल चिकना चर्म,
बना आप ही था जो अपना जन्म-जात वर वर्म।
भाल ढका सा था बालों में ढाल बना था वक्ष
धर्षित भी भुजदण्डों से थे उत्कर्षित युग कक्ष
कर में क्या भू अधरों पर भी रखे था वह चाप
दृष्टि प्रखर थी किन्तु मृदुल था उसका सरलालाप/"

कर्ण को भी समाज ने लांछित और तिरस्कृत किया था। सूत पुत्र कहे जाने के अभिशाप ने उसके भीतर प्रतिशोध की ज्वाला भर रखी थी। गुप्त जी ने उसकी क्रोधाग्नि भड़काकर जातिभेद के अहंकार को नष्ट किया है। युयुत्सु भी आत्मगत एकता की भावना पर बल देता हुआ जाति-भेद को मिथ्या मानता है—

"यदि है यह दोष दम्भकृत है, आत्मा से कौन अनादृत है
होता प्रदीप में कज्जल ज्यों कर्दम के शत सहस्रदल त्यौं"

बीसवीं शताब्दी नारीजागरण की दृष्टि से स्मरणीय है। अनेक नारी आन्दोलनों ने नारी को यथोचित मान-सम्मान, गौरव और गरिमा दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। गुप्त जी के चिन्तन पर भी इन आन्दोलनों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। द्रौपदी चीर-हरण प्रसंग को युगानुरूप प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने प्रतिरोध की मूर्ति बनी गान्धारी को प्रवेशवर्जित राजसभा में प्रवेश कराया है। इससे पीड़ित नारी के प्रति सहानुभूति और संवेदना का पक्ष प्रबल हुआ है तो दूसरी ओर नारी की लज्जा से खेलने वालों का दर्प विगलित हुआ है। वह अपने पति, पुत्रों और सभासदों को धिक्कारती हुई कहती है—

"हाय! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई रक्षित क्या?
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या?"

वर्तमान काल में नारी सचेत और जागरूक है। अपने अधिकारों से

परिचित है। मान-अपमान के लिए मुँह खोलना जानती है। नीति-न्याय और नियम विरुद्ध आचरण करने वालों से लोहा लेने में नहीं चूकती है। 'जयभारत' की द्रौपदी का व्यक्तित्व आज की नारी का है। पाण्डव-अज्ञातवास के समय राजा विराट के यहाँ सैरन्ध्री दासी बनी द्रौपदी पर जब रानी का भाई कीचक आसक्त होकर प्रेम निवेदन करता है तब द्रौपदी भीम की सहायता से न केवल उसका अंत करती है बल्कि राजा विराट की सभा में उपस्थित होकर आत्मरक्षा की अपील के साथ राजा की शासन-व्यवस्था के प्रति अंगुलि उठाती है, उसको धिक्कारती और ललकारती है—

"लज्जा रहनी अति कठिन है, कुल वधुओं की भी जहाँ
है मत्स्यराज किस भाँति तुम हुए प्रजा रंजक वहाँ?"

इतना ही नहीं वह आगे भी कहती है कि हे राजन! जब तुम अपने पद का स्वाँग भी नहीं रच पा रहे हो तब अधिकारहीन छत्र का भार ढोना क्या तुम्हें अखरता नही है—

"तुमसे निज पद का स्वाँग भी भली भाँति चलता नहीं
अधिकार रहित इस छत्र का भार तुम्हें खलता नहीं।"

एक दासी द्वारा राजा के प्रति इतने कठोर वचनों का प्रयोग औचित्य का प्रश्न खड़ा कर सकता है लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि सैरन्ध्री सामान्य दासी नहीं है बल्कि दासी के रूप में वह हस्तिनापुर की साम्राज्ञी है। यदि वह साम्राज्ञी न भी होती तो भी जहाँ मामला शील-हरण का हो वहाँ सामान्य नारियाँ भी पहाड़ी नदी की भाँति भयानक हो जाती हैं। यदि वे प्रतिकार स्वरूप कुछ भी करने में अपने को सक्षम नहीं पाती हैं तब भी उस अपराधी के मन में पाप-भय उत्पन्न कर ही सकती हैं। द्रौपदी चीर-हरण प्रसंग में गुप्त जी ने द्रौपदी द्वारा दुःशासन के मन में पाप-भय उत्पन्न कराया है। इससे उसकी आँखों के आगे अन्धेरा छा जाता है। द्रौपदी का वस्त्र आकाश की भाँति अनन्त और अछोर लगता है। उसके हाथ जड़ हो जाते हैं, पैरों में कंपन होने लगता है। वह स्तम्भित होकर वहीं बैठ जाता है—

"सहसा दुःशासन ने देखा अन्धकार सा चारों ओर
जान पडा अम्बर सा वह पर जिसका कोई ओर न छोर।'

आकर अकस्मात अति भय सा उसके भीतर बैठ गया,
कर जड़ हुए और पद काँपे, गिरता सा वह बैठ गया।"

गुप्त जी ने इस प्रसंग के माध्यम से दु:शासन के भीतर छिपे मानवीय पक्ष को उभारा है। द्रौपदी के धिक्कार वचनों से उसके जड़ व्यक्तित्व की पपड़ी टूटी है। उसमें आत्म-ग्लानि और आत्म-चिन्ता का भाव पैदा हुआ है। जाहिर है दुष्टता के शिखर पर बैठे मनुष्य में भी हृदय होता है जो कभी न कभी करुणा विगलित अवश्य होता है। दु:शासन के चारित्रांकन में कवि ने इसी मनोविज्ञान का सहारा लिया है, उसे आत्मचेता बना दिया है। कर्ण द्रैपदी के अपमान में साझीदार था। उसे भी आत्म-ग्लानि होती है—

"मैंने अपना एक कर्म ही अनुचित माना,
कृष्णा का अपमान, किन्तु तब क्या यह जाना,
वह है मेरी अनुजवधू, अब कहाँ ठिकाना,
इसका प्रायश्चित मृत्यु के हाथ बिकाना।"

'महाभारत' के पात्रों में करुणा, शोक और विलाप का संताप है किन्तु उनमें आत्मग्लानि और आत्मचिन्ता का ताप नहीं है; किन्तु 'जयभारत' के रचनाकार ने उनमें ग्लानि और परपीड़ा का बोध जाग्रत किया है। इससे मानवीयता को पुष्ट करने में सफलता मिली है। कर्ण के प्रति किये गये अपराध के लिए कुंती का हृदय दहकता है, उसका ममत्व उसकी मातृचेतना को झकझोरता है, उसका स्नेह सामाजिक मर्यादाओं की आड़ में उपजी विवशता को धिक्कारता है। उसकी रागिनी से करुणा का स्वर निकलता है। आत्मग्लानि में पश्चाताप उभरता है—

"देवी नहीं, न आर्या हूँ, मैं नागिन सी जननी हूँ
सबसे ऊँचा पद पाकर भी स्वयं स्व गौरव हननी हूँ।
माँ से माँ न कहे तो कुछ भी कहे पुत्र वह गाली है
किन्तु दोष दूँ कैसे तुझको जो स्वकर्म गुणशाली है।"

दुर्योधन के हठधर्मी अनैतिक कार्यों से अनेक कौरव दुखी और चिन्तित हैं। धृतराष्ट्र और गान्धारी की पीड़ा असीम है। वे बार-बार अपने भाग्य को कोसते और धिक्कारते हैं। गांधारी अपने भीतर की ईर्ष्या का विकास दुर्योधन में पाकर बहुत

दुखी है। आत्मग्लानि में भरकर वह कृष्ण से कहती है—

"मैं भी हे गोविन्द अन्ततः अबला नारी,
पाँडु सुतों को देख मुझे भी दाह हुई थी,
एक-एक पर बीस बीस की चाह हुई थी।
दुर्योधन में विकसित हुई घनीभूत वह डाह ही
क्या कर सकती हूँ मैं भला, भर सकती हूँ आह ही।"

'महाभारत' के पात्रों को गुप्त जी ने ज्यों का त्यों उतारा नहीं है बल्कि कल्पना और संवेदना के सम्मिश्रण से उन्हें नया रंग-रूप दिया है। यहाँ तक कि दुर्योधन के अंतकाल के चित्रांकन में मर्मिकता का समावेश कर उसे अधिक प्रभावकारी बना दिया है। दुःशासन में मातृभक्ति का रंग भरकर नया सृजन किया है। वस्तुतः गुप्त जी मानवीयता के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इसलिए 'महाभारत' के जो पात्र मानवता विरोधी हैं उन्हें भी मानवता से सम्बद्ध कर प्रस्तुत करने का प्रयास सराहनीय है। कवि को जहाँ भी और जिस भी कृत्य से अमानवीय व्यवहार की गंध आयी है, वहाँ और उस पर वह व्यंग्य करने से नहीं चूका है। द्रौपदी का अपमान मानव जाति के लिए एक कलंक है। उसकी घोर निन्दा कवि का अभिप्रेत है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर वह घटोत्कच से कहलाता है—

"हाय ये दुष्कृत असंभव दानवों से
हम निशाचर ही भले तुम मानवों से।"

मानवतावाद की स्थापना का व्यापक दृष्टिकोण लेकर गुप्त जी 'जयभारत' की रचना में प्रवृत्त हुए हैं। मानवतावाद के विधायक तत्त्वों-सत्य आहिंसा, सद्भाव, प्रेम, समता, ममता, त्याग, सौख्य,स्नेह, शरणागतवत्सलता आदि की प्रतिमूर्ति युधिष्ठिर को सर्वाधिक महत्त्व के साथ उभारने के पीछे कवि का यही ध्येय है। युधिष्ठिर के चरित्रांकन में मानवीय गुणों का सहज विकास देखा जा सकता है। प्रारम्भ में उदारता और त्याग, तत्पश्चात् समता, स्नेह, और वत्सलता का विकास हुआ है। स्वर्ग-आरोहण के प्रसंग में युधिष्ठिर का चरित्र सौजन्य बन्धुत्व, वैराग्य और अनासक्ति आदि गुणों से परिपूर्ण है। श्वान को अपने साथ स्वर्ग ले जाने का दृढ़ निश्चय उनकी शरणागतवत्सलता का परिचायक है, साथ ही इस धारणा का प्रबल

समर्थक भी है कि सभी जीव परमात्मा के अंश हैं, सभी समान हैं। यही कारण है कि युधिष्ठिर को आत्मीय जन के साथ नरकवास स्वीकार्य है किन्तु उनके बिना सुरपुर भी त्याज्य है—

"सुनो तात! हम सभी एक हैं भवसागर के तीर,
हो शरीर यात्रा में आगे पीछे का व्यवधान,
परमात्मा का अंश रूप हैं आत्मा सभी समान
एकलव्य तो मनुज मुझी सा मुझमें सब का भाग,
मैं सुरपुर में भी न रहूँगा निज कूकर तक त्याग।"

गुप्त जी ने युधिष्ठिर का व्यक्तित्व इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह मान-अपमान, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, राग-द्वेष, सुख-दुख आदि भावनाओं से ऊपर उठ चुका है। वे सुख को जन-जन में बाँटने के लिए उद्यत हैं। दुख को आनन्दपूर्वक स्वीकार करने में तत्पर हैं। दुर्योधन की कुचालों से सिंहासन छिन जाने का पश्चाताप नहीं हैं,किन्तु 'अश्वत्थामा मरो नरो वा कुंजरो' कहने का पाप-बोध उन्हें सालता रहता हैं। जब भीम दुर्योधन द्वारा किये गये अनैतिक और अमानुषिक कार्यों के परिप्रेक्ष्य में युधिष्ठिर द्वारा झूठ बोलने को पाप नहीं मानकर उनका पूर्णतः बचाव करते हैं तब युधिष्ठिर का भीम से निम्नलिखित संवाद पाप की मुक्त कंठ से की गई स्वीकृति है—

"बोले धर्मराज–भाई भीम तुम शान्त हो,
सिद्ध नहीं होता शुद्ध साधन से साध्य जो,
उसकी विशुद्धता भी शंकनीय होती है,
तात मेरा पक्षपात योग्य नहीं इतना,
पाप जो हुआ है उसे मानना ही चाहिए।"

उपर्युक्त स्वीकृति युधिष्ठिर के चरित्र पर लगी कालिमा को धो डालने की पृष्ठभूमि रचती है। इससे उनका चरित्र उज्ज्वल हो सका है। श्रीकृष्ण, भीष्म, द्रोण और धृतराष्ट्र आदि पात्र उनके उदात्त चरित्र का गुणगान करते नहीं अघाते। कृष्ण, द्रौपदी से कहते हैं—

"निज साधना से अधिक नरकुल को युधिष्ठिर से मिला

क्या स्वर्ग में भी सुलभ यह जो सुमन धरती पर खिला।"

'तीर्थ यात्रा' प्रसंग में हनुमान का भीम से यह कहना—"है युधिष्ठिर की युगोपरि धर्मनिष्ठा/पाएगा राजत्व ही उनसे प्रतिष्ठा।" "यतो धर्मस्ततो जयः' की पुनरावृत्ति है। वस्तुतः 'जहाँ धर्म है वहीं जीत है' की स्थापना ही 'जयभारत' का प्रधान लक्ष्य है। मानव की श्रेष्ठता तथा धर्मराज युधिष्ठिर की जय को काव्य का प्रतिपाद्य बनाकर गुप्त जी ने भरपूर प्रशंसा बटोरी है। युधिष्ठिर नर रूप में मानव माहिमा के प्रतीक हैं। 'जयभारत' के अन्तिम सर्ग में 'जयभारत' 'जय जय भारत' और 'जय जय जयभारत' की तीन बार आवृत्ति द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर का ही जयघोष किया गया है जो प्रकारान्तर से मानव का जयनाद है।

'महाभारत' में 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित' के द्वारा मानव की श्रेष्ठता का रूपायन हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयभारत' में इसे और व्यापकता दी है। मंगलाचरण में ही उन्होंने नर को नमस्कार किया है—'नमो नारायण नमो नर प्रवर पौरुषकेतु' काव्य का प्रारम्भ भी 'नारायण-नारायण साधु नर साधना' द्वारा होता है जो नर महिमा की प्रतिष्ठा का संकेतक है। नरदेहधारी युधिष्ठिर मानवमहिमा से मंडित हैं। कवि ने उन्हीं को माध्यम बनाकर 'जयभारत' के रूप में मानवमहिमा का आख्यान प्रस्तुत किया है। इसमें उसको सफलता भी मिली है।

रीडर, हिन्दी विभाग,जवाहरलाल नेहरू राजकीय महाविद्यालय,पोर्टब्लेयर, अण्डमान-७४४१०४

नवगीत का सौन्दर्यशास्त्र

—रामनारायण पटेल 'राम'

हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्र अंग्रेजी 'एस्थेटिक्स' के पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है जिसका अर्थ है ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र। परंपरा के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र दर्शन की एक शाखा है जिसका विवेच्य विषय है-कला और प्रकृति का सौन्दर्य। कांट ने इसका संबंध अभिरुचि विषयक चितंन तथा निर्णय के साथ स्थापित किया और हीगेल ने विषय-परिधि का सीमांकन करते हुए 'समस्त कलाओं में निहित सामान्य आधारभूत तत्वों के दर्शन' (अर्थात् कला का दर्शन) के रूप में एस्थेटिक्स की प्रतिष्ठा की। क्रोचे ने सौन्दर्यशास्त्र को 'अभिव्यंजना का विज्ञान' घोषित करते हुए एस्थेटिक्स को अभिव्यक्ति का पुनः प्रत्यक्षात्मक एवं कल्पनात्मक क्रियारूपों का विज्ञान माना।[१] सूजन के. लैंगर ने कला-दर्शन की दृष्टि से भावन अर्थात् प्रभाव पक्ष को महत्व देते हुए घोषित किया कि प्रभाव पक्ष का विवेचन-विश्लेषण ही सौन्दर्यशास्त्र का प्रमुख विवेच्य विषय है।[२]

पश्चात्य विज्ञानों के साथ-साथ आधुनिक भारतीय विज्ञानों ने भी सौन्दर्यशास्त्र को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की शास्त्रीय विवेचना है।[३] डॉ. नगेन्द्र के अनुसार सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौन्दर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्विक विवेचन और उसके परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।[४]

इस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र के संबध को लेकर दो विचारधाराएँ सामने आती हैं– (१) सौन्दर्यशास्त्र का संबंध केवल ललित कलाओं से है (२) सौन्दर्यमात्र से। प्रथम कोटि के विचारकों में हीगेल तथा उसकी विचारधारा से प्रभावित आलोचक आते हैं जबकि द्वितीय कोटि के विचारकों की दृष्टि केवल कलाओं में नहीं अपितु प्रकृति और जगत के प्रत्येक क्षेत्र में सौन्दर्य का दर्शन करती है। वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मा़ानव-जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है।

नवगीतकारों ने सौन्दर्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रमुख प्रश्नों एवं पक्षों पर

गहराई से विचार किया है। इस दिशा में समीक्षकों की अपेक्षा सृजनशील रचनाकारों का चिंतन अधिक महत्वपूर्ण एवं सार्थक है क्योंकि उनमें कोरे चिंतन की स्तब्ध जड़ता नहीं है प्रत्युत सृजन के साक्षात् अनुभव की रासायनिक भट्ठी में तपकर ये विचारकण आविर्भूत हुए हैं।

नये कवियों की सौन्दर्य विषयक अवधारणा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है—सौन्दर्यमूल्यों की संदर्भ सापेक्षता। प्रायः सभी नए कवियों ने सौन्दर्यबोध एवं सौन्दर्यमूल्यों की मीमांसा युगबोध की सापेक्षता में प्रस्तुत करते हुए स्थापित किया है कि सौन्दर्यमूल्य शाश्वत एवं चिरंतन न होकर परिवर्तनशील तथा कालसापेक्ष होते हैं।[५] बदलते हुए सौन्दर्यबोध को नवगीतकारों ने पहचानने और काव्य में अभिव्यक्त करने का विशेष आग्रह किया है ताकि परिस्थिति और परिवेश से हमारा रागात्मक संबंध जुड़ सके। इस नूतन राग-बोध को ही डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आधुनिक संवेदना कहा है। अपनी पुस्तक हिन्दी नवलेखन में इसके उपकरणों का विस्तार से विवेचन करते हुए उन्होंने इस प्रसंग में निम्नलिखित तत्वों की चर्चा की है—क्षण का महत्व, बौद्धिकता, रागात्मक तटस्थता, सौन्दर्य एवं कुरूपता के आंतरिक निर्णायक तत्त्व अर्थात् सौन्दर्य की कसौटी, संघटित मानव व्यक्तित्व और नैतिकता की नवीन धारणा।[६] इस अर्थ में नवगीत का सौन्दर्यबोध एकदम नया है, अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्यरूपों से भिन्न है। इस भिन्नता को विषय के रूप में गृहीत सौन्दर्य उपादानों के चुनाव तथा अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में उसके द्वारा उपस्थित किए गए क्रांतिकारी परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है। सैद्धांतिक रूप में छायावादी सौन्दर्यदृष्टि व्यक्तिपरक, भाववादी एवं सूक्ष्मता केन्द्रित थी। छायावादोत्तर काल में यह व्यक्तिवादी दृष्टि ही मांसल एवं रोमानी अधिक हुई है जबकि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की मूल चेतना के यथार्थोन्मुखी होने के कारण इनमें सौन्दर्य के बाह्य मानों को ही अधिक प्रमुखता मिली है परन्तु नवगीत ने नये युग के सौन्दर्यबोध को उसकी वस्तुपरक प्राणवत्ता और भावपरक तरलता से संयोगात्मक रूप में उपस्थित किया है। इस प्रकार नवगीत की सौन्दर्यानुभूति न तो नयी कविता की भाँति चमत्काराश्रित है और न ही पारंपरिक गीत की भाँति रूढ़ मानसिकता से ग्रस्त। उसने रूढ़ गीतों की आत्मपरक अन्तर्मुखता की अनिवार्यता को अस्वीकार कर

दिया। इसका एक कारण उसकी गीतात्मकता है। युगीन संवेदना को गीतात्मकता प्रदान करने के लिए नवगीत को अपने परंपरागत सीमांतों का परित्याग करना पड़ा। बैद्धिकता से वह भावना एवं कल्पना को अनुशासित तथा संयमित करता है। नवगीतकार उद्घोषणा करते हुए कहता है—

"हमको क्या लेना है परदेशी केशर से
बूढ़े हिमपात से
सड़ते तालाबों में खिले हुए बासी जलजात से
हमको तो लिखने हैं गीत नए
पिघले इस्पात से।"[७]

नवगीतकार सौन्दर्य को केवल वायवी न मानकर भोगपरक मानता है और पाठक के सौन्दर्यबोध का भी ख्याल रखता है।उसने मात्र प्रकृति में सौन्दर्य का संगीत ही नहीं सुना प्रत्युत् युग के ह्रासशील मूल्यों को तराशा और तलाशा भी है। वह अनुभूति की सहजता और प्रामाणिकता को पूरी ईमानदारी के साथ व्यक्त करता है-

"चाहे वे कड़वी हों, चाहे वे असत्य
मुझको तो प्यारी हैं वे ही अनुभूतियाँ
जो नितांत मेरी हैं।"[८]

उसका निजी अनुभव ही नवगीत की पहचान है, उसका अपनापन है। नवगीत की इसी प्रामाणिकता ने लिजलिजी भावुकता से नवगीत को मुक्त कर तटस्थ रागमयता और नवीन सौन्दर्यबोध को अवतरित किया। नए मिथक, बिम्ब, प्रतीक तथा भाषा की भावानुसारी इसके सौन्दर्यशास्त्र की विशेष पहचान है। नवगीत के सौन्दर्यशास्त्र को विविध घटकों में स्पष्ट किया जा सकता है—

भाव-सौन्दर्य

नवगीत में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष प्रधान होता है। नवगीतकार ने अपने परिवेश की समस्या, युग-जीवन की विसंगति, दुख-दर्द आदि को बड़ी गहराई से देखा-परखा है और उस अनुभव को अपनी लेखनी के द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है। चाहे पारिवारिक विघटन का संदर्भ हो, आर्थिक विषमता हो, आस्था-अनास्था, कुंठा, संघर्ष या राजनैतिक भाव हों नवगीत सभी भावनाओं की अभिव्यक्ति में

सफल हुआ है।

नवगीतकारों की अनुभूति और अभिव्यक्ति इस तथ्य का प्रमाण है कि नवगीतकार सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक परिवेश के प्रति चेतनाशील है। उसकी भंगिमाओं में राष्ट्रीय संवेदनाओं के मूल स्वर अपनी अनुगूँज लिए हैं। अपनें देश, अपनी मिट्‌टी, मिट्‌टी की सोंधी महक अपने स्वजनों के प्रति प्रगाढ़ स्नेह का उद्‌गार नवगीत में देखने योग्य हैं—

"गूँज उठ रही जन-जन मन
मुखरित मातृभूमि का कन-कन
थिरक रहा भारत का आँगन
नए पर्व का नया समीरन।"[९]

नवगीत अन्तर्राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। युग की आवश्यकताओं को परखते हुए नवगीतकारों ने अपनी सोच को व्यापक आयाम प्रदान किया है। वैज्ञानिकबोध,मानवतावादी चेतना, विश्वसमाज की परिकल्पना जैसे विस्तृत फलक पर भी नवगीत की भाव-संयोजना को देखा जा सकता है।

ध्वनि-सौन्दर्य

ध्वनि-संयोजन की दृष्टि से नवगीत पर्याप्त समृद्ध है। यहाँ ध्वनिबोधक शब्दों का प्रयोग बिम्ब-निर्माण तथा भावगत गरिमा की रक्षा के लिए हुआ है। केदारनाथ सिंह, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, शंभुनाथ सिंह, रमेश रंजक, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, रामनारायण पटेल के गीतों में ध्वनियुक्त शब्द विशेष स्तर पर पाये जाते हैं। कुछ उदाहरण देखें—

(१) "छिन छिपती/ छिन हौले किलके
छिन ता झां वह बोले
अरबराय के गाड़ी काढ़ै
ठमकत-ठमकत डोले
घाटी-घाटी दही-दही कर चमकै सोन चिरैया
पावों पर पाहुडा कर पर्वत गाए खंता खइया।"[१०]

(२) "फर-फर-फर फूल झरे

निमिया की डाल के
जैसे रूमाल के।"[११]

इन उदाहरणों में ठमकत-ठमकत, दही-दही, फर-फर जैसे शब्द ध्वनिमूलक हैं। इनके अतिरिक्त कल-कल, साँय-साँय, तड़-तड़, झिमिर-झिमिर, गुन-गुन, पिक-पिक, थर-थर, पाँत-पाँत, रस्ते-रस्ते, चड़-चड़, धई-धई आदि अनेक ध्वनि-व्यंजक शब्दों के प्रयोग नवगीत में मिलते हैं। इसी प्रकार यहाँ पुनरुक्त ध्वनि,[१२] अमूर्त ध्वनि, मूर्त ध्वनि, चमत्कार मूलक[१३], नैसर्गिक ध्वनि[१४], गंध ध्वनि[१५] निःशब्द ध्वनि[१६] आदि के उदाहरण भरे पड़े हैं।

रस-संयोजन

इस बात की चर्चा की जा चुकी है कि नवगीत भावप्रधान होता है और रस में भावों की कोमलता नितांत बनी रहती है इसलिए यहाँ परुष रसों का बहिष्कार किया जाता है और रौद्र-भयानक, वीभत्स रसों की योजना नहीं की जाती। वीर रस का महत्त्व वीर गीतियों के लिए है। प्राचीन काल में युद्ध वीर, दान वीर तथा दया वीर-तीन प्रकार के पात्र इस रस के आलम्बन होते थे। कहने का भाव यह है कि पुराने समय में कविता में रस की अनिवार्यता पर बल दिया जाता था परन्तु नवगीत में रस विषयक धारणा पूर्वानुरूप नहीं है। नवगीत में युगीन यथार्थ का चित्रण बखूबी हुआ है। आज जबकि आदमी जीने के लिए संघर्ष कर रहा है, अतः संघर्ष के लिए रस का मोह कहाँ? इस अर्थ में नवगीत में रस तथा अलंकारों की स्थिति गौण ही है। खोज करने पर नवगीत में जहाँ-तहाँ रस मिलेगा भी तो वह स्वतःस्फूर्त होगा, किसी सोची-समझी योजना के तहत नहीं। करुण, वात्सल्य, वीभत्स, शृंगार के उदाहरण कहीं-कहीं मिलते हैं-

करुण रस का चित्र देखें—

"घुरहू कब तक
और सहेंगे?
पाप-पुण्य/पिछले जन्मों के
अर्जित फल/अपने कर्मों के
कब तक इसमें

और बहेंगे
भूखे दिन/भूखी रातों की
गाथा कब तक /और कहेंगे?[१७]
इसी प्रकार संयोग शृंगार का चित्र द्रष्टव्य है—
"आओ, यह साँझ
कुछ घड़ियों की साँझ
इसे बरसों की कर लें।"[१८]

अतः नवगीत में रस की अपेक्षा जीवन की कड़वाहट, घुटन, सिसकन जैसी अनुभूतियों का स्वर प्रधान है।

छान्दसिक सौन्दर्य

नवगीत ने परंपरागत छन्द एवं तुकों की जड़ता को तोड़ा है इससे गीत की जड़ता एवं दुहराव समाप्त हो गयी। परन्तु छन्द की मुक्ति का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उसमें संवेदनात्मक लय भी न रहे। गीत जब रागात्मकता तथा भावात्मकता की ओर झुकता है तब उसे लय की ओर झुकना ही पड़ता है। नवगीत इसी संवेदनात्मक लय की अनिवार्यता का आकांक्षी है। नवगीतकार ने एक ओर मुक्तछन्द की धारणा को आत्मसात करते हुए लयाश्रित छंद-योजना का स्वतंत्र प्रयोग किया है तो दूसरी ओर इन कवियों के छन्दों में आधुनिक बोध को व्यक्त करने वाली प्रखरता का समावेश भी निराला की परंपरा में किया गया है।

नवगीत में प्रयुक्त छन्द का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। प्रायः प्रत्येक रचनाकार का निज सृजित छन्द तो है ही, एक ही रचनाकार ने अनेक तरह के छन्दों का भी सृजन किया है। साथ ही उन्होंने अपने एक ही गीत में दो-दो व तीन-तीन छन्दों का प्रयोग किया है। इनमें चरणों की संख्या भी अनिश्चित है। कुछ उदाहरण देखें—

पंचमात्रिक पर्व–

"झील की हिमकरी ५,५
छाँह-सी ५
तैरेती आँख की ५,५

बेकली।	५
काँपते कूल पर धर धरण	५,५,५
ज्योत्सना डुबकियाँ	५,५
ले चली।"[१९]	५

सप्तमात्रिक पर्व—

"डाल झूमी, पर न टूटी	७,७
किन्तु पंछी उड़ गया था।	७,७
मैं न आया तुम्हरे द्वार	७,७
पथ ही मुड़ गया था।"[२०]	४,७

नवगीत में जहाँ नवीन शैली के छन्दों का प्रयोग हुआ है वहाँ छन्द की परम्परागत शैली के उदाहरण भी मिलते हैं—

"जल तरंग-सी चूड़ी खनकी
बाजी बांसुरिया तन-मन की
खुशबू-सी आहट नियराई
नस-नस अकुलाहट लहराई'
बलिहारी उनके सुमिरन की।'"[२१]

यह गीत चौपाई-छन्द में निर्मित है। यहा प्रथम कड़ी में ३२ मात्राएँ हैं तथा अंतरा में भी। बाद की हर कड़ी में १६ मात्राएँ हैं।

इसी प्रकार रजनी तथा हीर छन्द के अतिरिक्त विष्णुपद, सरसी, सार, दोहा, सोरठा के अनुकरण पर लिखे गये मात्रिक छंद भी मिलते हैं।

नवगीत की एक खास पहचान है—लोक-प्रचलित छन्दों का प्रयोग। वंशी और मादल (ठाकुर प्रसाद सिंह) के गीत इसके प्रमाण हैं। लोक-छन्दों में लिखने वाले रचनाकारों में भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिंह, शंभुनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, रमेश रंजक, अनूप अशेष, नईम, रामनारायण पटेल प्रमुख हैं।

मल्हार, भजन, ढोला, बिरहा आदि धुन पर भी नवगीतों का सृजन हुआ है। यह तथ्य रेखांकनीय है कि कुछ नवगीतकारों ने अपनी मौलिक धुनों पर रचनाएँ लिखीं हैं।[२२] तो कहीं-कहीं पाश्चात्य छन्द-शैली जैसे-अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी के

छन्दों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

बिम्ब-सौन्दर्य

बिम्ब-सौन्दर्य की दृष्टि से नवगीत समृद्ध है। या यों कहें कि नवगीत पूर्णतः बिम्बधर्मी काव्य है। किन्तु उसके बिम्ब पूर्ववर्ती कविता के समान अलंकृत, अनुकृत, रूढ़ अथवा काल्पनिक नहीं हैं बल्कि सर्वथा नवीन अछूते और अकल्पनीय हैं। वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र के जीवन्त बिम्ब, महानगरों के त्रासद और नाटकीय बिम्ब, ठेठ ग्रामीण अंचलों एवं वन-पर्वतों के आदिम तथा मिथकीय बिम्ब, भोगी हुई जीवनानुभूतियों के संश्लिष्ट बिम्ब, उपचेतन के अंधकार में निहित वासनाओं के छद्‌मरूपों के खंडित एवं प्रतीकात्मक बिम्ब तथा राजनैतिक, सामाजिक, विसंगतियों और विडम्बनाओं के सांकेतिक और ध्वन्यात्मक बिम्ब[२३] नवगीत में भरे पड़े हैं। इन बिम्बों की मौलिकता व विशिष्टता ही नवगीत की सही पहचान है।

"सीढ़ी से सरक गई धूप
कलशों पर ठहर गई शाम।"[२४]

सीढ़ी से धूप का सरकना, कलशों पर शाम का ठहर जाना-नवीन मानवीय सरोकारों को जोड़ने वाले बिम्ब हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक सौन्दर्य बिम्बों में दृक्, स्पृश्य, श्रव्य, घ्राणमूलक, भाव संश्लिष्ट, अलंकृत आदि सरलता से मिल जाते हैं।

"तिनके-सी तैर गई तनहाई
दर्द के समुंदर से
खारी तट ने मांगी उतराई
भारी-भारी स्वर से।"[२५]

यह स्पृश्य बिम्ब का सुंदर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त 'पर्वत पर आग जला वासंती रात में'[२६] 'सूनी तलैया की ओट में/डुबा दिया चोट ने'[२७] 'रात वाले गुलाबों का वन/सूरज बुझा बेंगनी नीला'[२८] जैसे बिम्बों में युगबोध की अनुगूँज मिलती है। ये प्रकृति के मादक-सौन्दर्य का पान करते हुए भी जीवन के छोटे से छोटे अनुभव को पकड़ते हैं।

प्रतीक-सौन्दर्य

नवगीत में प्रतीक-सौन्दर्य जीवन्त तथा सशक्त बन पड़ा है। प्रकृतिपरक

और मिथकीय प्रतीक यहाँ विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

"बंधु रे ! हम-तुम
घने जंगल की तरह होते हैं।"[२९]

यहाँ ' घना जंगल' प्रेम-व्यवहार की सघनता का प्रतीक है। इसी प्रकार 'भूख की चिरइया' को निम्नवर्गीय समाज में फैली आर्थिक विपन्नता का प्रतीक मानते हुए नवगीतकार कहता है—

"सूँघ गई रोटी की महक/भूख की चिरइया
ओ बाबा/यह रोटी भूखे मल्लाह ने बनाई
आँतों की ऐंठ पोर-पोर उतर आई।"[३०]

इन प्रतीकों में मानवीय तथा मानवेतर प्राणियों की संवेदनाओं को बखूबी उकेरा गया है।

आलंकारिक सौन्दर्य

इस बात की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं कि नवगीत रूढ़ अथवा पारंपरिक अलंकारों की घेराबंदी से दूर है अर्थात् इनमें अलंकारों के प्रति मोह नहीं है। परन्तु यदि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि पारंपरिक साम्यमूलक अलंकारों का अन्वेषण करें तो निस्संदेह वे इसमें उपलब्ध हो जाएंगे। एक बात और कि नयी कविता का अप्रस्तुत-विधान जहाँ सौन्दर्यमूलक की अपेक्षा चमत्काराश्रित है वहाँ नवगीत के सौन्दर्यशास्त्र में चमत्कार को काव्य का अभिप्रेत नहीं स्वीकारा गया है, इसलिए इसका अप्रस्तुत-विधान मूलतः चारुत्वमूलक है। इसमें सर्जनात्मक कल्पना का उसी रूप में सहयोग लिया गया है जिस रूप में बिम्ब-रचना के लिए कल्पना का प्रयोग नवगीतकारों ने किया है। नवगीत का आलंकारिक-सौन्दर्य प्रकृतिपरक उपादानों के साथ-साथ सामयिक जीवन के यथार्थ से बुना गया है, यही इसकी मौलिकता है।

साम्यमूलक अलंकारों का कुछ प्रयोग देखें—

मूर्त के लिए मूर्त—

'नवीन शिशु-सी लगी लुभाने
प्रसन्न मूरत खिले सुमन की।'[३१]

अमूर्त के लिए मूर्त—

'मरी मछली की तरह बहती जिंदगी है'[32]

अमूर्त के लिए अमूर्त–

'मेंहदी महुए की पछुवा में
नींद सरीखी लाज उड़ गई।'[33]

यहाँ 'लाज' प्रस्तुत है तथा 'नींद' अप्रस्तुत। दोनों ही अमूर्त हैं।

इसी प्रकार यमक, अनुप्रास, मानवीकरण, अतिशयोक्ति के साथ-साथ वक्रतामूलक अलंकार भी खोजे जा सकते हैं। वक्रतामूलक का उदाहरण देखें-

'पिया न आए आमों में
आ गया टिकोरा री।'[34]

भाषिक सौन्दर्य

नवगीत ने भाषा के क्षेत्र में वह परिवर्तन किया जिसकी अपेक्षा छायावाद के शिल्प के उत्तरोत्तर विकास के लिए पाठक ने की। उसने काव्यभाषा को एक कुहासे से निकाल कर उसे स्पष्ट बिम्बात्मक भूमिका प्रदान की। नवगीत की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने एक ओर भाषा के सौन्दर्यपरक गुणों में वृद्धि की है तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति की सक्षमता का पूरा निर्वाह किया है। यह सत्य है कि नवगीतकार ने किसी नवीन शब्दावली को अपनी कला द्वारा इस प्रकार वाक्य-विन्यस्त किया कि वह अपने कथ्य की अभिव्यक्ति में समर्थ हो नवीनता से परिपूर्ण हो गई है। उसमें आंचलिक जनपदीय शब्दों का शृंगार है तो महानगर की घुटन को साकार करने वाले शब्द-समूह भी हैं। यही कारण है कि नवगीत परंपरागत गीतों की भाँति कोमलकांत पदावली से सम्पन्न नहीं है बल्कि उसकी भाषा भावानुसारी है।

नवगीत में प्रायः जनभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है, साथ ही आधुनिक जीवन के नग्न यथार्थ तथा ऊब, खीझ, टूटन की अभिव्यक्ति और कल्पनामय भाषा में सौन्दर्य-छवियों को अंकित किया गया है—

"एक पेड़ चाँदनी
लगाया है..... आंगने
फूले तो आ जाना

एक फूल...मांगने।"[३५]

यद्यपि नवगीत की एप्रोच गैर-रोमांटिक है फिर भी कहीं-कहीं भाषा में रोमांटिक तत्व दिखायी देता है-

"तुम धीरे उठे और
कुछ बिन कहे चल दिए
हम धीरे से उठे स्वयं को
बिन सहे चल दिए।"[३६]

नवगीत ने पारंपरिक गीत की भाषा को ही नहीं बदला, उसने स्वयं अपने मुहावरे एवं साँचे को अपर्याप्त पा कर बार-बार तोड़ा है और नये साँचे का निर्माण किया है। वह थोड़े में बैखलाए हुए बुद्धिजीवियों अथवा राजनीतिज्ञों की बेमानी भाषा नहीं है।[३७] वह लोकाश्रित भाषा है जिसमें आंचलिक बोलियों के शब्दों एवं मुहावरों का निःसंकोच प्रयोग हुआ है किन्तु लोकभाषा से जुड़ी होकर भी वह अपनी भंगिमा एवं तेवर के कारण विशिष्ट एवं अर्थवत्ता की अनंत संभावनाओं से युक्त है।[३८] इसीलिए इसमें एकालाप अथवा आत्मग्रस्तता के बदले सामाजिक संताप का स्वर प्रमुख है। भाषा की यह मौलिकता एवं जीवंतता नवगीत के शिल्प की ताजगी का आधार है।

समग्रतः कहा जा सकता है कि नवगीत का सौन्दर्यशास्त्र अपने आप में नया, अनोखा व समृद्ध है। इसमें लोकजीवन की वस्तु-वेदना को ग्रहण किया गया है। ये गीत जहाँ से उठे हैं वहाँ की जमीन के रस को लिए हुए हैं। अतः इन गीतों में शहरी, गँवई, व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रेम, प्रेमेतर सभी प्रकार की संवेदना व सौन्दर्य के विभिन्न रूपों को नये बिम्बों,प्रतीकों व शब्द-शैली के द्वारा व्यक्त किया गया है।

संदर्भ

१. वि. क्रॉस, एस्थेटिक्स (अनु. डगलस एंजिलि, १९३३) पृ. १५५
२. फिलिंग एण्ड फॉर्मे, पृ. १२
३. सौन्दर्यशास्त्र, पृ. १०
४. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ. ४
५. समकालीन हिन्दी कविता संवाद (सं) विनय एवं अश्विनी पाराशर, पृ. ९
६. देखें, हिन्दी नवलेखन, पृ. २२६
७. बालस्वरूप राही, जो नितांत मेरी है, पृ. ३६

८. वही, पृ. ७८
९. रवीन्द्र भ्रमर, रवीन्द्र भ्रमर के गीत, पृ. ८४
१०. उमाकांत मालवीय, धर्मयुग, १० जून १९७३ पृ. १९
११. महेन्द्र शंकर, पांच जोड़ बांसुरी, पृ. ११४
१२. देखें-केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं रस बोलते हैं, पृ. २५
शिवबहादुरसिंह भदौरिया, पुरवा जो उगल गई, पृ.१३
केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक, पृ.२०४
रामदरश मिश्र, बैरंग बेनाम चिट्ठयाँ, पृ. १००
१३. देखें–गोपाल दास नीरज, दर्द दिया है, पृ. १२०
१४. देखें–देवेन्द्र कुमार, धर्मयुग, १७ नवम्बर १९६३
१५. देखें–ठाकुर प्रसाद सिंह, पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ. ५४
१६. देखें, वही, वंशी और मादल, पृ. ३८
१७. अखिलेश कुमार सिंह, नवगीत अर्द्धशती, पृ. ३८-३९
१८. चंद्रदेव सिंह, गीत-२, दिल्ली, पृ. ७१
१९. रमेश रंजक, गीत विहग उतरा, पृ. १९
२०. शिवमंगल सिंह 'सुमन',पॉच जोड़ बॉसुरी, पृ. ३८
२१. उमाकांत मालवीय, मेंहदी और महावर, पृ. ६५
२२. देखें, रमेश रंजक के गीत
२३. शंभुनाथ सिंह, नवगीत दशक,पृ. १५-१६
२४. रवीन्द भ्रमर, रवीन्द्रभ्रमर के गीत, पृ. ६७
२५. रमेश रंजक, गीत विहग उतरा, पृ. ४१
२६. ठाकुर प्रसाद सिंह, नवगीत दशक १, पृ. १२३
२७. वही, वंशी और मादल, पृ. ११-१२
२८. देवेन्द्र कुमार
२९. रमेश रंजक, ध्यान नहीं टूटेगा, पृ. ६६
३०. अनूप अशेष, लौट आएँगे सगुन पंछी, पृ.११
३१. वीरेन्द्र मिश्र, लेखनी बेला, पृ.२४
३२. शलभ श्रीरामसिंह,नवगीत सप्तदशक (पूर्वार्द्ध) पृ.१४८
३३. नरेश मेहता, पाँच जोड़ बॉसुरी, पृ. ५७
३४. शंभुनाथ सिंह, माध्यम मैं, पृ.७१
३५. देवेन्द्र कुमार, नवगीत सप्तक, पृ.३०
३६. ओम प्रभाकर, पाँच जोड़ बाँसुरी, पृ १३२
३७. प्रेमशंकर रघुवंशी, राष्ट्रवाणी, सित. १९७१
३८. शंभुनाथ सिंह, नवगीत दशक-२, पृ.१६

हिन्दी विभाग, डी. पी. विप्र स्नात.महाविद्यालय,विलासपुर-४९५००१(छत्तीसगढ़)

सांस्कृतिक आंदोलन और हिन्दी प्रचार

—ए. बी. शिंगाडे

विभिन्न धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलनों ने जनमानस के उद्बोधन और संस्कार के लिए जो सशक्त प्रयास किए उनकी सजगता ही हिन्दी की अनुरूपता बनी। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दियों ने नये संस्कारों की चेतना जगायी। वैयक्तिक निर्माण की संकीर्ण धारणा का त्याग कर बौद्ध धर्म ने सर्वमानव की जिस कल्याण-कामना का प्रवर्तन किया, वह महायान बना जिसका समन्वित संस्थानक हुआ सिद्ध-संयोग। सहजयानी सिद्धाचार्यों की वाणी में इस अंतर्धारा का परिचय मिलता है। अनेकानेक भाषाओं की पूर्वरूपता यह सिद्ध करती है कि चर्यागीत और दोहे भारतीय संस्कार के नये प्रस्थानक थे। त्यागमय जीवन और बंधुत्वमय उन्मेष की मानवीय संवेदना ने इसे अभिनव रस-दृष्टि दी।

सांस्कृतिक जड़ता को दूर करने के लिए गोरखानथ ने जो "जाग मछंदर गोरख आया" का उद्घोष किया था, उसकी सामर्थ्य हिंदी की अस्मिता बनी।

हिंदी की प्राणवत्ता का यह सचेत प्रमाण है कि हिंदी उस क्षेत्र की सीमाओं में ही सिमटी नहीं रही जिसे हिंदी का प्रकृत क्षेत्र माना जाता रहा है। बाबा फरीद जिस समय पंजाब में "सलोकु" सुना रहे थे, उस समय अनेक सूफी संत समस्त भारत की भू-परिक्रमा में जुटे थे। जिस समय डलमऊ के मुल्ला दाउद अपने "चंदायन" (१३७९ ई.) की कहानी सुना रहे थे, उसके कुछ ही आसपास विद्यापति प्रेम, विरह और सौंदर्य के रस-सिक्त गीतों से मिथिला की अमराइयों को मुखरित कर रहे थे। इसी समय काशी के जुलाहे कबीर की वाणी ने पीड़ित मानवता को नयी स्फूर्ति दी, नया मनोबल दिया। यह वाणी हिंदी क्षेत्र में संकुचित नहीं रही, इसने पंजाब को आविष्ट किया तो महाराष्ट्र और गुजरात को प्राणवत्ता दी। जिस समय कबीर की वाणी उत्तर को प्रेरणा दे रही थी, प्राय : उसी समय महाराष्ट्र के नामदेव ने अपने हिंदी अभंगों के माध्यम से दक्षिण में योगमयी भक्ति की अमृत धारा बहायी। यह तो ज्ञात ही है कि दक्षिण में जन्म लेनेवाली भक्ति के उत्तर में संस्थापक हो गये रामानंद, जिनकी रचना आदि ग्रंथ में संकलित है। उत्तर के गोरखनाथ और दक्षिण

के ज्ञानदेव का समय आसपास ही पड़ता है। और ज्ञानदेव के कतिपय हिंदी पदों का संधान मिल चुका है। ब्रजभूमि में कृष्ण के लीलावतार के माध्यम से ब्रजभाषा की पीयूषधर्मिता के निष्कंप दिव्य दीपाधार हुए आंध्र के वल्लभाचार्य जिनके द्वारा प्रवर्तित वल्लभसंप्रदाय ने "अष्टछाप" का गौरव-मण्डल दिया। रामानुज की निष्ठा ने ही हिन्दी को तुलसीदास दिया। निंबार्क संप्रदाय की भक्ति-तंरगिणि ने हिंदी की सार्वदेशिक व्यापकता की झाँकी को अपने साहित्य में उपस्थित किया।

कई अर्थो मे भारतीय संस्कृतिसंगम का प्रतिन्यास हुआ गुजरात अर्थात् गुर्जर देश, जिसकी प्राणवंत अस्मिता के सचेत अधिवक्ता रहे कन्हैया लाल माणिकलाल मुंशी। अपभ्रंश भाषा को व्याकरणिक संरचना देनेवाले आचार्य हेमचन्द्र की यह पुण्यभूमि रही। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव धर्म-साधनाओं का विलक्षण संयोजक हुआ गुर्जर देश। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित कृष्णभक्ति की रससिक्तता की सचेत प्राणवत्ता यहीं स्फुरित हुई। ब्रजभाषा की मधुरिमा को इसी भूमि में नयी विच्छित्ति मिली, नवीन भंगिमा मिली। इस परंपरा के सजग गायक हो गये भाल, केशवदास कायस्थ, नरसिंह मेहता, अखा और बैजू बावरा। राजस्थान की मीरा तो ऐसी घुलमिल गयीं कि उनकी अलग पहचान ही खो गयी। गुजराती कृष्णदास अधिकारी तो अपनी हिंदी रचनाओं के कारण अष्टछाप-मंडल की सदस्यता के पूरे अधिकारी बन बैठे। कृष्णकाव्य के अंतर्गत "रुक्मिणी हरण" प्रसंग तो रोमानी भंगिमा, अंदाज और तेवर का अद्‌भुत विन्यास हो गया। भीकमदास ने "रुक्मिणी-हरण" की ऐसी सशक्त विधा दी कि हरण-काव्य की अविच्छिन्न धारा ही प्रवाहित हो चली। वैष्णव कवियों में महत्तम हो गये दयाराम, जिनकी हिन्दी रचनाओं में अपना स्वाद अनूठा सा है। भक्ति की अजस्र प्रवाहिनी धारा में नित्य अवगाहन करनेवाले हो गये मुक्तानंद, ब्रह्मानन्द, प्रेमानंद, निष्कुलानंद, भूमानंद, देवानंद प्रभृत्ति। इस धारा की समग्र प्राणवत्ता के सजग प्रतीक हो गये प्रेमानंद, जिनकी हिंदी रचनाएँ साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारीणी है।

कबीर द्वारा प्रवर्तित संत-मत का ऐसा व्यापक प्रभाव रहा कि कबीर के अहमदाबाद प्रवास की अवधारणा प्रचलित हो गयी। मुकुंद मोगली ने तो हिंदी में "कबीर-चरित्र" (१६२५ ई.) की रचना कर दी। संतकाव्य को नया मोड़ देनेवाले

हो गये गुजरात के दादू दयाल, जिनकी हिंदी रचनाओं ने संत काव्य को नयी महिमा दी, नूतन काव्यात्मक गरिमा दी। इनके अतिरिक्त गुजरात के हिंदी शिल्पियों में उल्लेख्य हैं प्राणनाथ, भाणदास, दीन दरवेश, अर्जुन और अनवर।

आचार्य क्षितिमोहन सेन के "दादू" ने तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सामने मध्यकालीन रहस्यवाद का ऐसा वातायन खोल दिया कि कबीर की संवेदना आधुनिक रहस्यवाद की भूमिका हो गयी। ब्रह्मसमाज की औपनिषदिक जिज्ञासा को इस साहित्य ने रससिक्त किया, विलक्षण भंगिमा दी।

गुरुग्रंथ साहब को मध्यकालीन चेतना का विश्वकोष भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होंगी। जिन अन्य संतों की रचनाएँ यहाँ संकलित हैं, उनमें उल्लेख्य हैं–बाबा फरीद, बेनी, जयदेव, सधना, त्रिलोचन, नामदेव, रामानंद, पीपा, धन्ना, कबीर, रैदास, भीखन, परमानंद आदि। सिक्ख गुरुओं की भाषा में देशांत बोध निर्दिष्ट नहीं। ऐसा कहें कि वह पंजाबी और हिन्दी दोंनों की ही सामान्य संपदा है। जिन संतो की हिन्दी रचनाएँ आदिग्रंथ में संकलित हैं, वे न तो किसी भूखण्ड विशेष के निवासी हैं और न किसी जाति विशेष के सदस्य ही। रामानंद दाक्षिणात्य ब्राह्मण हैं तो कबीर हैं काशी के जुलाहे। बंगाल के जयदेव हैं, तो महाराष्ट्र के नामदेव। रैदास चर्मकार हैं तो नाथा दर्जी। जिनकी हिंदी रचनाएँ यहाँ संकलित हैं वे संकीर्ण अर्थों में हिन्दीभाषी नहीं हैं। इस प्रकार हिंदी के व्यापक प्रसार और सार्वदेशिक विस्तार का अन्यतम निदर्शन और प्रमाण है आदिग्रंथ।

गुरुग्रंथ साहब में गुरु-दरबार से संबद्ध कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। गुरु अर्जुन देव जी का कवि दरबार भी व्यापकता का विन्यास रहा, जिनके दरबारी कवियों में उल्लेख्य हैं–कल्ह, जल्हन, वल्ह, कला सहर (कलशधर), मधुरा, जालप, हल्ह, सलल, भल्ल, दास, कीरत, गयंद, सेवक, भिक्खा आदि। गुरु हरगोविंद सिंह के दरबार के नत्थमल और अब्दुल्ला नामक ढाढी थे जो डफ बजा कर स्वरचित 'वारों' का सस्वर गायन करते थे। गुरु तेगबहादुरजी के भक्त बहादुर के नवाब सैफ खाँ ने "रामदर्पण" की रचना हिंदी में की। गोरा बादल की कथा का गायक जटमल तो लाहौरी ही था। गुरु गोविंद सिंह जी तो स्वयं ही कवि-शिरोमणी थे, कविगुरु थे, कविराज थे। भाई संतोष सिंह के गुरु प्रतापसूर्य (१८३४ ई.) का प्रमाण है कि

'बावन कवि हुजुर गुरु रहति सदा ही पास आवै जाहि अनेक ही कहि जस ले धनराम।' कहा जाता है कि इन हजूरी कवियों का विशाल संग्रह था विद्यासागर, जिसका अधिकांश आनंदपुर के आक्रमण के समय विलुप्त हो गया। इन बावन कवियों में से कई ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनमें उल्लेख्य हैं-अणीराम, अमृतराम, आलम, ईश्वरदास, सुखदेव, सुंदर, सेनापति, हुसैन अली, हंसराम, कुंवरेश, गुरुदास, गोपाल, चंदन, टहकन, धर्मसिंह, नंदराम, नंदलाल, मंगल लक्खणराम प्रभृत्ति। निर्मल पंथी संतो में से भाई गुलाब सिंह की हिंदी रचनाएँ उपलब्ध हैं। भाई सुक्खासिंह ने सन् १९३९ ई. में "गुरु विलास" की रचना की, तो भाई संतोष सिंह ने सन् १८४३ ई. में "गुरुप्रतापसिंह" ग्रंथ की,जम्मू जैसे डोगरी क्षेत्र में वल्लभदेव ने 'तुलसी रामयण' की रचना की तो कविदत्त ने 'वीरविलास' की।

वल्लभसंप्रदाय के भक्त कवियों ने विपुल ब्रजभाषा काव्य की रचना की। जिसकी रससिक्तता पर जयदेव की पीयूषधर्मिता का अक्षुण्ण प्रभाव है।वैष्णव गौड़ीय कवियों में उल्लेख्य हैं गोपाल भट्ट, कृष्णदास, परमानंद, रघुनाथदास, घनश्याम दास, नरहरिदास चक्रवर्ती, गोकुलदास कविराज और नगीर मामूद। इन कवियों के इस आयोजन से बँगला में एक विशेष प्रकार की काव्य-भाषा का विकास हुआ जिसे 'ब्रजबुली' की अभिधा मिली। पंडितों का एक दल इसे विद्यापति की गीति-भाषा से विकसित मानने का आग्रही है। डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार पूर्वी बंगाल (अब बांग्लादेश) के मुसलमान अपने धार्मिक कृत्य के रूप में 'गोहारी' अथवा 'गोयारी' भाषा के गीत गाया करते थे जिनकी भाषा को डॉ. चटर्जी अवधी का एक रूप मानने के आग्रही रहे। 'गोहारी' अथवा गौयारी वस्तुतः ग्वालियरी का बँगला प्रभावित रूपांतर है। ब्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली के लिए 'ग्वालियरी' जैसी अभिधा के उपयोग उपलब्ध हैं।

और महाराष्ट्र! गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ-संप्रदाय ने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को नयी चेतना, नूतन गरिमा और अभिनव संपन्नता दी जिसका उन्मेष नाथ-योगियों, महानुभवपंथी संतों और वारकरी भक्तों की रचनाओं में उद्भासित होता है। महाराष्ट्र की परंपरा यह स्वीकार करती है कि ज्ञानेश्वर के प्रपितामह गोरखनाथ के प्रत्यक्ष शिष्य थे। 'ज्ञानेश्वरी' (रचना १२९० ई. में) पर नाथ

पंथ का प्रभाव निर्दिष्ट है। स्वयं गोरख के मूलस्थान के संबंध में मतभेद है। वे एक ओर पेशावर के माने गये तो दूसरी और काठियावाड़ के, गोरखपुर को इनका जन्मस्थान माना गया है। तो नेपाली पंरपरा इन्हें नेपाल का मानती है। बंगाली तो इन्हे बंगाल का ही मानते हैं। गोरखनाथ की वाणियाँ निर्दिष्ट करती हैं कि दसवीं शताब्दी में ही हिंदी सार्वदेशिक रूप ग्रहण कर चुकी थी। ज्ञानदेव की कुछ हिंदी रचनाएँ उपलब्ध हैं। नामदेव (१२७० से १३५१ ई.) की हिंदी रचनाएँ तो 'आदिग्रंथ' (१६०४ ई) में संकलित हैं। एकनाथ (मृत्यु १५९९ ई.) और तुकाराम (१६०९ ई.-१६४९ ई.) और केशव स्वामी (मृत्यु १६५१ ई.) की हिंदी रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि सामान्य जनसंपर्क की यही भाषा थी। भूषण तो रहे छत्रपति शिवाजी के राजकवि और हिंदी रही मराठा दरबार की राजभाषा।

सुदूर केरल के कुछ कवियों ने भी थोड़ी बहुत हिंदी में रचनाएँ कीं। कर्नाटक के महीपति, कृष्णदास, रूपमांगत पंडित और लक्ष्मीपति जैसे कवियों ने अपनी हिंदी रचनाओं द्वारा इसकी सार्वदेशिकता का विज्ञापन किया। आंध्र क्षेत्र में तो हिंदी के उस रूप का विकास हुआ जिसे दक्खिनी अथवा दक्किनी हिंदी कहने की परंपरा चल पड़ी। दक्खिनी जहाँ राजसभाओं में समादृत हुई, वहीं जनसमाज में प्रचलित। बीजापुर का अली आदिल द्वितीय न केवल उच्च कोटि का कवि हुआ, बल्कि कवियों का आश्रयदाता कल्पवृक्ष हो गया था। ख़्वाजा बंदेनवाज गेसूदराज (१३२२-१४२३ ई.) की दक्खिनी हिंदी की रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं। दक्खिनी के चर्चित रचनाकार रहे शाह मीराजी शम्शुल उश्शाक (मृ.१४९७ ई.) शाह बुरहानुद्दीन जानम (मृ.१५८३ ई) शाह अली मुहम्मद माशूक अल्ला (मृ.१५६६ ई.) मुहम्मद कुली कुतूबशाह (१५८१-१६११ ई.) गवासी (मृ.१६३० ई.) मलिक उल्-शोअरी, मुहम्मद नुसरत "नुसरती", मीर हाशमी बीजापुरी (मृ.१७०५), मेंगमंन दकिनी, काजीमहमूद बहरी, शेख वजहीउद्दीन बजरी, अरिनुद्दीन आजिज (मृ १६६३ ई.) इन्ननिशाती, वजही, महम्मद शरीफ अशरफ, निजामी आदि। दक्खिनी की रचनाओं में उल्लेख्य हैं- 'तूतीनामा', 'मैना सतवंती', 'गुलशने इश्क' (मनोहर और मालती की कथा) 'चक्कीनामा', 'सुख सुहेला', 'युसुफ जुलेखे', 'मसनवी इशरारे इश्क', मनलगन, 'पंछीनामा', मैसनवी लालगोहर', 'मसनवी रतन व पदम', 'फुलवन', गंज मरकफी' और 'सबरस' आदि। श्रीराम शर्मा और राहुल

सांकृत्यायन के द्वारा इस साहित्य से हिन्दी पाठकों का परिचय संभव हुआ। स्पष्ट है कि हिंदी किसी क्षेत्र-विशेष से ही बँधी नहीं रही। यह किसी धर्म विशेष की ही धरोहर नहीं बनी। समस्त भारत के संतों, महात्माओं, भक्तों, सूफियों तथा धर्म-निरपेक्ष कवियों ने अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के द्वारा इसे व्यापकता, गरिमा और संपन्नता से मंडित किया। सर्वव्यापक युगबोध ओर मानवीय चेतना की संवाहिका यदि कोई भाषा रही तो वह हिंदी ही थी।

हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वयात्मक समायोजन की विधा हुई हिंदी। कबीर (१३९८ ई.) के जन्म के पूर्व ही मुल्ला दाऊद ने हिंदी में 'चंदायन' (१३७९ ई.) की रचना की और उस काव्यधारा का प्रवर्तन हो गया जिसे प्रेमाख्यानक काव्य परंपरा की संज्ञा मिलती रही। विचलित राजनीतिक स्थिति के कारण बहुत सारी सामग्री लुप्त हो चुकी है, किंतु मृगावती (कुतुबन १५१३ ई.) 'पद्मावत (जायसी १५४० ई.) और 'मधुमालती' (मंझन १५४५ ई.) जैसी रचनाएँ प्रमाणित करती हैं कि भारत में वैसी संस्कृति पनप रही थी, जिसे सही मायने में हिंदी संस्कृति कहा जाना चाहिए। शेख फरीदुद्दीन से लेकर ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती तक इस व्यापक संस्कार के शिल्पी हुए। अमीर खुसरो इसके प्रतिमान हो गये। धर्माचार्यों की संकीर्णता के विरुद्ध जो व्यापक अभियान चला उसकी संवाहिका रही हिंदी। प्रेमाख्यानक काव्य की परंपरा का जो संवर्धन हुआ उसके जगमगाते नक्षत्र हो गये--'माधवानल कामकंदला, (आलम १५४८ ई.) 'चित्रावली' (उसमान १६१३ ई.) 'ज्ञानदीप' (शेखनवी १६१९ ई.) 'रतनावली', 'कनकावती' और 'कैबलावती' (न्यामतखाँ, जानकवि) 'हंसजवाहर' (निशान शाह १७२६ ई.) इंद्रावती (नूरमुहम्मद १७४४ ई.) अनुराग बाँसुरी (नूरमुहम्मद १७३४ ई.) युसुफ जुलेखा (शेख गुलाम अशरफ निसार १७९० ई.) आदि दक्कनी की देन का उल्लेख किया जा चुका है। शेख फरीद से लेकर बुल्लेशाह तक की हिंदी रचनाएँ यह निर्दिष्ट करती हैं कि मिलिजुली संस्कृति का भावात्मक आत्म-बोध रही हिंदी। संतों की वाणियाँ सांस्कृतिक एकीकरण की अन्यतम विधाएँ हुईं जिन्होंने मानव को मानव से विच्छिन्न करनेवाले तत्वों का खुलकर विरोध किया। रूढ़ि और अंध-परंपरा से विद्रोह किया। इस प्रकार सामाजिक विषमता, संस्थानक विडंबना और व्यवस्थाजन्य कदाचार से विद्रोह की वाणी रही हिंदी।

सूफी रहस्यानुभूति और कृष्णप्रेम के सामंजस्य का अन्यतम प्रतिमान और प्रमाण हो गये बादशाह वंश की ठसक त्यागनेवाले मियाँ रसखान। ऐसे अनेकानेक मुसलमान रसिक हो गये जिनके लिए कहा गया–"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिंदू वारिये" ऐसे मुसलमान कवियों में जायसी,दादू, रहीम, रसखान, शेख आलम, शेख रंगरेजिन, दरिया, मुबारक, उसमान, कादिर, कासिमशाह, कुतुबन, रसलीन, नसरती, नूर मुहम्मद, मंझन, शेखनबी, अली मुहीब खाँ 'पीतम' के साहित्यिक संयोग का अमूल्य हाथ रहा।

बिलग्राम (जिला हरदोई) के साहित्यिक अवदान का अभी यथार्थ मूल्यांकन संभव नहीं हुआ है। इसका अध्ययन समंजसित सांस्कृतिक चेतना का वास्तविक निर्धारण कर सकेगा। सैयद रहमतुल्ला बिलग्रामी रहमत (मृ.१९०९ ई) न केवल चिंतामणि जैसे कवि के आश्रयदाता रहे बल्कि उन्होंने स्वयं 'पूर्णरस' नामक हिंदी ग्रंथ की रचना की। यहाँ के हिंदी कवियों में उल्लेखनीय हैं मीरजा रोशन अली 'नेही' (मृ. १६५६ ई.) सैयद मुबारक अली 'मुबारक' (मृ.१६८७ ई.), सैयद मुहम्मद 'मधनायक' (मृ. १६८७ ई.) मीर अब्दुलजलील (मृ.१७२५ ई.) मीर अब्दुल वाहिद 'जौकी', सैयद गुलाम अछी 'रसलीन' (संभावित मृ.१७५० ई.) सैयद बरकत उल्लाह (प्रेमप्रकाश) आदि। इनके अतिरिक्त नयी खोजें कुछ और मुसलमान कवियों को प्रकाश में लायी हैं-वाजिद, शाह मुहम्मद, आजम खाँ, अब्दुल रहमान (खानखाना रहीम से भिन्न), कुदरतुल्ला, फाजिलशाह (प्रेमरतन), हजरत खुब मुहम्मद चिश्ती (खूब तरंग १६४४ ई.) सैयद शाह, हासिम, सैयद राजु (सुहागिननामा), लायक मुहम्मद आशिक (किस्सा कामरूप और कामलता), बिमानी (इस्कनामा) आदि। समंजसित इतिहास-बोध हिंदी के सांस्कृतिक मूल्य का प्रमाण होगा।

जिसे हम दरबारी संस्कृति मानने के अभ्यस्त हैं उसके रूपायन में हिंदी का अप्रतिम योग रहा। हिंदी रचनाएँ सूफियों को भावमग्न कर रही थीं, तो बादशाहों, नवाबों और अन्य सरदारों को रससिक्त। नवाब ईसबा खाँ ने बिहारी के दोहों का जो क्रम बाँधा वह आज तक परिनिष्ठित है। मुसलमान सभाकवियों का हिंदू दरबारों में यदि प्रवेश हो सका तो माध्यम हिंदी ही रही। दशमेश गुरु गोविंद सिंह की सभा में आलम, जमाल और हुसैन अली जैसे हजूरी कवि सम्मिलित थे। ईसाई धर्मप्रचारकों ने भी 'ईसायन', 'रवीष्ट पुराण', 'शुभसमाचार' और भजन गीतों की रचना के लिए हिंदी को माध्यम बनाया तथा साहित्यिक मूल्य के नगण्य

होने के बावजूद उनकी पत्रकारिता और कहानियों को वैधता मिली।

आधुनिक हिंदी गद्य के आदिशिल्पियों में अग्रगण्य हो गये गुजरात के लल्लूजी लाल तो पंजाब में इसकी प्रतिष्ठा के संयोजक हो गये बंगाल के नवीन चंद्र राय। हिंदी प्रचार के समथर्क हो गये गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती तो इसकी सार्वदेशिकता के मण्डल हुए गुजराती महात्मा गाँधी। हिंदी कहानी के प्रारंम्भिक इतिहास की जाँच पड़ताल करते समय आचार्य शुक्ल ने बंगमहिला की 'दुलाइ वाली' (प्र.१९०७ ई.) की विवेचना की है। 'सरस्वती' जैसी मानक पत्रिका का प्रकाशन इण्डियन प्रेस जैसी बंगाली संस्था की परिकल्पना का परिणाम था तथा गिरिजाकुमार घोष ही हिंदी के लाला पार्वतीनंदन थे।

भारतेंदु युग की साहित्य साधना के निर्वचन में माधवराव सप्रे और केशवराम भट्ट जैसे महाराष्ट्रीय साहित्यकारों की चर्चा अनिवार्य रही है। बाबूराव विष्णु पराडकर तो हिंदी पत्रकारिता के शलाका-पुरुष हो गये। तेलुगु-भाषी हिंदी के प्रतिमानित साहित्यकारों में उल्लेखनीय हैं बालकृष्ण राव, रमेश चौधरी आरिगपूडि तथा बालशौरि रेड्डी तथा तमिल मूल के रांगेय राघव तथा शौरिराजन। चंद्रहासन तो हिंदी निदेशालय के ख्यात निदेशक रहे। नागरी लिपि को अखिल भारतीय भाषा-साहित्य के लिए मान्य कराने के अधिवक्ता थे दक्षिण के ही मलिक मोहम्मद।

निष्कर्ष

१) मध्यकाल के प्रारंभ में ही भारतीय संस्कृति जो अपना स्वरूप निर्माण कर रही थी, उसकी अंतरंग स्फूर्ति और अस्मिता की पहचान हुई हिंदी।
२) हिंदी की सार्वदेशिक सार्वजनिकता स्वयंसिद्ध हैं। भारतीय लोक मानस के साथ निर्बंध संपर्क स्थापति करने की अकेली माध्यम रही हिंदी।
३) भारत की समन्वय साधना और संस्कृति संगम की प्रामाणिक विधा और प्रतिमानिक प्रतिरूप तथा भारतीय मानस की प्रतिबोधात्मक अभिव्यक्ति बनी रही हिंदी।
४) स्थानीयता, जाति बोध, साप्रंदायिक विन्यास आदि सभी प्रकार की संकीर्णताओं और प्रतिबंधो से विद्रोह की वाणी हिंदी की अस्मिता बनी।
५) भारतीय भाषाओं मे हिंदी ही ऐसी अकेली भाषा रही, जिसके साहित्यिक रूपायण में अन्य भाषा-भाषियों का अप्रतिम योग रहा।

हिन्दी विभागाध्यक्ष,भारत महाविद्यालय, जेऊर (स.रे.)तहसिल करमाळा, जि. सोलापुर-४१३२०२ (महाराष्ट्र)

राजभाषा हिंदी : कार्यान्वयन की समस्याएँ एवं समाधान

—मोहन जाधव

भारतीय संविधान परिषद् ने १४ सितम्बर १९४९ को हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिया है। १९५० से हमारा संविधान लागू हुआ था। १९९९ में राजभाषा हिंदी का स्वर्णजयंती पर्व भी मनाया गया। किंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि राजभाषा हिंदी की स्थिति संभवतः आज भी वही है जो सन् १९५० में थी। संघ ने 'राजभाषा नियम १९७६' बनाया। समय समय पर राजभाषा के कार्यान्वयन में हिंदी के साथ अँग्रेजी को सह-राजभाषा का दर्जा दिया गया। संविधान द्वारा स्वीकृत भारत संघ की राजभाषा हिंदी है और लिपि देवनागरी है। किंतु अँग्रेजी सह राजभाषा होने से राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन में समस्याएँ आती हैं। संघ की प्रशासन की भाषा केवल हिंदी बनाए रखने में कौन सी कठिनाइयाँ आती हैं? क्या राजभाषा के रूप में हिंदी विकसित हुई है? आज हमें आत्मपरीक्षण एवं अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

दुनियाभर में देश की राष्ट्रभाषा ही राजभाषा बनी। राजभाषा की पहचान का आधार यही है कि उसमें प्रशासन की सहजभाषा होने के कितने कौशल हैं। यह राजभाषा केंद्रीय और प्रादेशिक सरकारों के बीच पत्रव्यवहार, प्रशासन, न्याय आदि अन्य व्यावहारिक कार्यो में प्रयुक्त होनेवाली होती है। यह भाषा जनमानस की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम माध्यम भाषा के रूप में भी अपनी अनौपचारिक भूमिका निभाती है। अब यह देखना भी जरूरी है कि क्या राजभाषा हिंदी ने यह भूमिका बखूबी निभायी है?

हिंदी को राजभाषा घोषित करने के बाद भी अप्रत्यक्षतः यह हिंदी को राजभाषा न बनाने का षड़यंत्र था। 'भारतीय संघ ने राजभाषा हिंदी को सक्षम बनाने के लिए विविध प्रयास किये, दूसरी तरफ जनता ने यह माना कि यह काम हमारा नहीं है, सरकार का काम है और वही उसका विकास करे। हम लोग शुरू से ऐसा मानकर चले हैं कि हमारी अपनी भाषा राजभाषा के रूप में सक्षम नहीं है। इस मानसिकता ने हिंदी को अनवाद की भाषा मात्र बना कर छोड़ दिया है'।[१]

राजभाषा का स्वरूप एवं महत्व

राजभाषा राज्य की भाषा या राज अथवा शासन की भाषा को कहा जाता है। निश्चय ही राजकाज चलाने के लिए किसी-न-किसी भाषा की आवश्यकता होती है। हम कह सकते हैं कि जिस भाषा का प्रयोग सरकारी कामकाज के लिए अथवा सरकारी कार्यालयों में किया जाता है, उसे राजभाषा कहते हैं।

जहाँ भिन्न भाषा-भाषी लोग होते हैं, वहाँ कोई-न-कोई भाषा 'सम्पर्क भाषा' का काम करती है। उसके लिए कोई कानून नहीं बनाया जाता। राजकाज की स्थिति कुछ अलग है। जहाँ राजा और प्रजा, शासक और शासित अथवा प्रजातांत्रिक देशों में सत्ताधारी दल के नेता और जनता की भाषा एक ही हो वहाँ यह निर्णय करने में कठिनाई नहीं होती कि शासन का काम किस भाषा में होगा। किंतु बहुभाषी देशों में राजभाषा का चुनाव करने में विशेष कठिनाई आती है। रूस, कनाडा, स्विट्जरलैंड, बेल्जियम आदि कई ऐसे देश हैं, जहाँ एक से अधिक भाषाएँ बोली जाती हैं। 'सरकारी कार्यालयों में विभिन्न स्तर के पदों पर आसीन सभी अधिकारी एक ही भाषा वर्ग के नहीं हैं, विभिन्न वर्ग के हैं। जब किसी विभाग में एक अधिकारी अपनी टिप्पणी या पत्र किसी एक भाषा में लिखे और दूसरा किसी अन्य भाषा में उसे कौन समझ सकेगा? अतः किसी एक राजभाषा की औपचारिक घोषणा करनी पडती है।'[२] अतः हिंदी भाषा को राजभाषा का दर्जा दिया गया। किंतु क्या यह सार्थक है?

प्राचीन काल से राजकाज में हिंदी

सम्राट अशोक की राजभाषा पालि थी। राजस्थान में प्राप्त पुरालेख से स्पष्ट होता है कि भारत देश में कभी शुद्ध संस्कृत, अशुद्ध संस्कृत, राजस्थानी अथवा हिंदी मिश्रित संस्कृत देश की राजभाषा रही है। राजपूत, मराठा और मुसलमान शासकों ने हिंदी को अपनाया था। इतना ही नहीं ईस्ट इंडिया के शासन काल में भी हिंदी का प्रयोग होता रहा। लगभग ६०० वर्ष पूर्व हिंदी दक्खिनी भाषा अर्थात् दक्षिण भारत की जनसाधारण की भाषा के रूप में स्थान ग्रहण कर चुकी थी।[३] मध्यगुग में हमारे देश में मुगल शासन काल में फ़ारसी ने राजभाषा का स्थान ले लिया था। किंतु विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि राजकाज के अधिकांश व्यवहार

जनभाषा हिंदी में ही चलते थे। अंग्रेज आए तो उन्होंने अँग्रेजी को यहाँ राजभाषा बनाया। उसका प्रभाव आज भी हम पूरे देश में देखते हैं।

राजभाषा हिंदी ही क्यों?

भारत देश में जनतंत्र घोषित किया गया है। किसी भी जनतंत्र में जनता का विचार सर्वोपरि रहता है। समता, स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय आदि जनतंत्र के मूल्यों को सार्थक बनाने के लिए जनता की भाषा में ही सरकार का कारोबार होना चाहिए। कार्यपालिका, विधान मंडल, संसद एवं न्यायालय में जो भाषा प्रयुक्त होती है, उसे राजभाषा कहते हैं। केंद्र और राज्यों के बीच संपर्क बनाए रखने के लिए किसी भी एक भाषा की आवश्यकता होती है। हिंदी ही हमारे देश की राजभाषा बन सकती है। क्योंकि हमारा देश बहुभाषी देश है। यहाँ किसी एक भाषा को राजभाषा का स्थान दिला देना बड़ा ही कठिन हो जाता है। सातवीं शती से हिंदी भाषा भारत देश की संपर्क भाषा रही है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राष्ट्रीय चेतना को जगाने का महत्त्वपूर्ण कार्य हिंदी ने ही किया है। देश के बहुत बड़े भाग में उसका प्रयोग होता है। देश के बहुसंख्यक लोग हिंदी समझ सकते हैं। अतः भारतीय संविधान में हिंदी को राजभाषा का स्थान प्राप्त हुआ है। वह केंद्र सरकार के कार्यालयों, सार्वजनिक उपक्रमों तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों में हिंदी का राजभाषा के रूप मे प्रयोग बढ़ रहा हैं। हिंदी दस राज्यों की भी राजभाषा है।

राजभाषा हिंदी : संवैधानिक स्थिति

स्वतंत्रता के बाद भारत में हम जिस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्था लाना चाहते थे, उस पर गहराई से विचार कर के विधिवत् संविधान बनाने के लिए संविधान परिषद् का गठन हुआ। इस परिषद् ने जो भारतीय संविधान बनाया वह २६ जनवरी १९५० से देश में लागू किया गया। संविधान परिषद् ने राजभाषा विषयक व्यवस्था की है। अनुच्छेद ३४३ तथा ३४४ में राजभाषा हिंदी विषयक व्यवस्था बतायी गयी है।भारत सरकार के सभी कानून, संकल्प, निविदा, प्रेस नोट, विज्ञापन, निर्णय आदि हिंदी में प्रकाशित होते हैं। राजभाषा अधिनियम की धारा ३४३ (३) के अनुसार हिंदी और अँग्रेजी दोनों का प्रयोग अनिवार्य है। विशेषतः संसद के किसी सदन या सदनों के समक्ष रखी

जानेवाली प्रशासनिक तथा अन्य रिपोर्ट हिंदी और अँग्रेजी में प्रस्तुत की जाती हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी की अपेक्षा अंग्रेजी में ही संसद का कामकाज चलता है। हिंदी के प्रयोग की छूट होने पर अँग्रेजी का ही प्रयोग किया जाता रहा है। तब आशंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि हमारे देश की राजभाषा हिंदी है या अँग्रेजी? हिंदी संघ की राजभाषा स्वीकृत तो की गई। किंतु हमारा देश बहुभाषा-भाषी होने के कारण प्रारंभ में किसी एक भाषा को राष्ट्रभाषा या संपर्क भाषा का स्थान देना उचित नहीं था। अतः संविधान में कहा गया कि अगले पन्द्रह वर्ष के लिए अँग्रेजी भाषा का प्रयोग उन सब कार्यों के लिए होता रहेगा जिनके लिए अब तक होता रहा है। इन पन्द्रह वर्षों में राष्ट्रपति किसी राजकीय प्रयोग के लिए अँग्रेजी के साथ हिंदी का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेंगे। पंद्रह वर्ष के उपरान्त हिंदी के साथ अँग्रेजी का कितना और किन-किन प्रयोजनों के लिए उपयोग होगा, इसका निश्चय संसद करेगी। प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद राष्ट्रपति एक भाषाआयोग की नियुक्ति करेंगे जो हिंदी के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग करने और अँग्रेजी का प्रयोग घटाने के बारे में सिफारिश करेगा। इसके अनुसार १९५५ में राजभाषा आयोग की स्थापना हुई। उसकी सिफारिशों पर विचार करने के लिए १९५७ में संसदीय समिति बनायी गयी। दोनों समितियों ने स्थिति को देखते हुए १९६५ के बाद भी अँग्रेजी का प्रयोग चालू रखने की सिफारिश की। उसके अनुसार १९६३ में राजभाषा अधिनियम बनाया गया। १९६७ में उसमें कुछ संशोधन किए गए। राजभाषा अधिनियम के कारण हिंदी को संघ के राजकाज में यथोचित स्थान मिला। किंतु फिर भी अँग्रेजी अनिवार्य रूप से बनी रही।

१९६३ के राजभाषा अधिनियम में ही निम्नलिखित प्रमुख प्रावधान के कारण राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन की समस्याएँ निहित हैं।

१) १९६५ तक संघ के तथा संसद के कामों में जहाँ अँग्रेजी का प्रयोग किया जा रहा था वहाँ १६ जनवरी १९६५ के बाद हिंदी के अतिरिक्त अँग्रेजी का भी प्रयोग जारी रखा जा सकेगा।

२) यदि किसी राज्य ने हिंदी को स्वीकार न किया हो, तो केंद्र सरकार उस राज्य के साथ अँग्रेजी में पत्राचार करेगी। हिंदी भाषी राज्य भी ऐसे राज्य के साथ

अँग्रेजी में पत्राचार करेंगे। यदि वे हिंदी में पत्र भेजते हैं तो उसका अँग्रेजी अनुवाद भी भेजा जाएगा।

३) केंद्र सरकार के संकल्प, नियम, अधिसूचना,रिपोर्ट, निविदा, आदेश जैसे कागज-पत्र हिंदी और अँग्रेजी दोनों भाषाओं में होने चाहिए।

४) केंद्र सरकार का कोई भी कर्मचारी हिंदी या अँग्रेजी में प्रवीण हो तो वह उसी भाषा में अपना काम कर सकता है। दोनों भाषाएँ उसे नहीं आतीं इसलिए उसका अहित नहीं होगा।

५) हिंदी को राजभाषा के रूप में स्वीकार न करनेवाले सभी राज्यों के विधान मंडल अँग्रेजी का प्रयोग बंद करने का प्रस्ताव पारित नहीं करेंगे। तब तक अँग्रेजी का प्रयोग यथावत् जारी रहेगा।

राजभाषा अधिनियम के कारण को संघ के राजकाज में यथोचित स्थान मिला, किंतु अँग्रेजी अनिवार्य रूप से बनी रही। हिंदी के प्रयोग में गति लाने के लिए केंद्र सरकार ने १९७६ में 'राजभाषा नियम १९७६' बनाकर एक महत्वपूर्ण कदम उठाया।

राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन के लिए उसमें एक महत्वपूर्ण नियम बनाया गया-'राजभाषा अधिनियम तथा राजभाषा नियमों के अनुपालन का दायित्व प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक प्रधान का होगा।' इस नियम के कार्यान्वयन का अनुसंधान करते हुए डॉ. अरुण कुमार इंगले ने निष्कर्षत: कहा है कि हिंदी में अधिकाधिक पत्राचार या कारोबार करने की मानसिकता नहीं बन पायी है।[४]

शासन के राजकाज में हिंदी का प्रयोग कितनी मात्रा में किया जाता है। इसकी जिज्ञासापूर्ति के लिए अनुसंधान हो रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत परियोजना के अंतर्गत राजभाषा हिंदी की स्थिति एवं गति को परखा जा रहा है। यह बात तो सच है कि अँग्रेजी का प्रयोग कई गुना अधिक बढ़ रहा है। हिंदी विरोधी शक्तियाँ हर समय, हर काल कार्यरत होती रहती हैं। आज अँग्रेजी की स्थिति ब्रिटिश शासनकाल की अपेक्षा कहीं अच्छी है। सरकारी कार्यालयों में बैठे बाबू लोग और अधिकारी हिंदी का विरोध करते हैं। वास्तव में हिंदी तभी राजभाषा हो सकती है, जब प्रशासन में उसका प्रयोग हो। केंद्र सरकार को सभी राज्यों से

पत्राचार हिंदी में करना चाहिए। इसमें आनेवाली कठिनाइयों को बुद्धिमत्तापूर्वक सुलझाना चाहिए। भाषा का व्यापक विकास तभी संभव होता है, जब उसका प्रयोग प्रशासन में होने लगे। ब्रिटिश काल में अँग्रेजी भाषा लोगों ने इसलिए सीखी कि वह शासन की भाषा बन गई थी। जब आवश्यकता होती है, तभी लोग किसी अन्य भाषा को सीखते हैं, अन्यथा नहीं। हिंदीतर भाषी राज्यों में हिंदी को प्रशासनिक कार्यों में धीरे-धीरे बढ़ावा दिया जाना चाहिए। ऐसा करने पर लोग स्वतः ही उसमें रुचि लेंगे और राजभाषा का प्रयोग करते रहेंगे।

राजभाषा हिंदी : कार्यान्वयन की समस्याएँ

'राष्ट्रीयकृत कार्यालयों में कार्यान्वित राजभाषा हिंदी: समस्याएँ एवं समाधान' (पंढरपुर तहसील स्थित कार्यालयों का अध्ययन) नामक परियोजना कर्मवीर भाऊराव पाटील महाविद्यालय के हिंदी विभाग ने पूरी की है। उसका निष्कर्ष यहाँ प्रस्तुत करना समुचित होगा।[५] उसकी सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—

१) कार्यालयीन कामकाज में हिंदी कंप्यूटर प्रोग्राम की जरूरत है। किंतु आज सभी कार्यालयों में अँग्रेजी में ही कंप्यूटर सॉफ्टवेअर उपलब्ध कराये गये हैं। अतः राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन में यह बड़ी बाधा है। वास्तव में आज बाजार में बहुत से सॉफ्टवेअर उपलब्ध हैं।

२) अधिकांश अधिकारी कंप्यूटर द्वारा हिंदी पत्राचार नहीं कर सकते। उन्हें कंप्यूटर द्वारा हिंदी पत्राचार करने की इच्छा-शक्ति एवं अभ्यास की आवश्यकता है।

३) कर्मचारियों की शिकायत है कि ज्यादातर लोग अँग्रेजी का प्रयोग करते हैं और हिंदी को दोयम स्थान देते हैं।

४) सभी अधिकारी, कर्मचारी और ग्राहक हिंदी में ही संभाषण एवं पत्राचार करेंगे तो कोई समस्या नहीं रहेगी।

५) कार्यालयों में देवनागरी टाइपराइटर की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए। अधिकांश कार्यालयों में हिंदी टाइपराइटर नहीं है।

राजभाषा अधिनियम, राजभाषा नियमों, गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग द्वारा जारी किए गए आदेशों और वित्त मंत्रालय की राजभाषा कार्यान्वयन समिति द्वारा की गयी सिफारिशों के आधार पर रिजर्व बैंक ने इस सिलसिले

में कुछ अनुदेश समय-समय पर जारी किए हैं।[६] हिंदी पत्राचार, टिप्पण, प्रारूप लेखन,यान्त्रिक सुविधाएँ, राजभाषा कक्षों की स्थापना, तिमाही प्रगति रिपोर्ट, हिंदी पुस्तकालयों की स्थापना आदि के कार्यान्वयन की जिम्मेदारी अधिकारी की होती है। किंतु उक्त सूचनाओं का पालन न के बराबर किया जाता है।

६) राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन में अधिकारी और कर्मचारियों की उदासीनता बाधा पहुँचाती है। दूसरी बात यह है कि संविधान ने ही उन्हें यह सहूलियत दी है।

समाधान

राजाभाषा हिंदी के कार्यान्वयन के लिए विशेष अभियान की आवश्यकता है। सभी स्तरों पर हिंदी के कार्यान्वयन के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

१) शिक्षा पद्धति में हिंदी को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। हायर सैकण्ड्री या बारहवीं तक हिंदी विषय की अनिवार्यता होनी चाहिए। हिंदी भाषी राज्यों के साथ ही हिंदीतर राज्यों में भी विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम हिंदी ही होनी चाहिए। अखिल भारतीय सेवाओं की परीक्षाओं में भी हिंदी को माध्यम बनाना एक महत्वपूर्ण कदम होगा।

२) दक्षिणी राज्यों के शिक्षक उत्तरी राज्यों में और उत्तरी राज्यों के शिक्षक दक्षिणी राज्यों में भेज दिये जायें, तो पारस्परिक सम्मिलन बढ़ने के साथ भाषा संबंधी विभेद भी दूर होगा।

३) भारत देश के दक्षिण में या प. बंगाल में तो हिंदी विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया है, इसे दूर करने का दायित्व राजनीतिक दलों का और सरकार का है, वास्तव में हिंदी का विकास प्रेम और सद्भाव द्वारा ही होगा। स्वतंत्रता के ५८ वर्ष बीत जाने के बाद हिंदी राजभाषा नहीं बन सकी, यह स्थिति अच्छी नहीं है। किसी स्वतंत्र देश के लिए अच्छी बात नहीं है कि अपनी कोई राजभाषा ही न हो।

४) कार्यालयीन कामकाज में अधिकारी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन में उनका योगदान आवश्यक है। हिंदी की प्रगति, प्रचार एवं प्रसार में अधिकारी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। उनकी यह जिम्मेदारी है

कि वे कार्यालय में हिंदी दैनिक, मासिक पत्रिका उपलब्ध कराएँ। उनका लाभ सभी अधिकारी और कर्मचारियों को होगा। शब्दकोश, पारिभाषिक शब्दावली और बहुभाषिक शब्दकोष कार्यालय में होने चाहिए। अतः छोटा-सा ग्रंथ विभाग भी हो। कर्मचारियों को पत्राचार करते समय सुविधा होगी। कार्यालय में कम्प्यूटर एवं हिंदी सॉफ्टवेअर और हिंदी टाइपराइटर उपलब्ध कराने चाहिए।

५) सांसदों (लोकसभा एवं राजसभा सदस्य) के माध्यम से संसद में केवल हिंदी को ही राजभाषा का पद दिलाने के प्रयास करने होंगे।

राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन की गति बढ़ाने के लिए कुछ अन्य उपाय

१) राजभाषा हिंदी की स्थिति, गति और वास्तविकता को स्वीकारना चाहिए। स्वाधीन भारत देश की स्वभाषा का आदर और प्रयोग करने के महत्त्व पर ध्यान देना तथा स्वभाषा प्रेम बढ़ाना आवश्यक है।

२) हिंदी में रुचि लेनेवाले किंतु बिखरे हुए लोगों का संगठन करना जरूरी है। जो व्यक्ति हिंदी में काम नहीं कर रहे हैं उन्हें प्रेरित करने तथा जिन्होंने हिंदी में कार्य करना आरंभ किया है, उन्हें उत्साहित करने के लिए उत्साहप्रद उदाहरण भी प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

३) हिंदीतर प्रांतीय भाषाओं का अद्यतन ज्ञान हिंदी भाषी प्राप्त करें अर्थात् अनुवाद को बढ़ावा मिले। इसके लिए पुरस्कार—सम्मान का प्रावधान हो, इससे हिंदी—हिंदीतर भाषियों के लिए प्रेरणा मिलेगी, ज्ञानवृद्धि होगी।

४) उत्तर-दक्षिण के विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग एक दूसरे से संपर्क स्थापित करें।

५) तकनीकी, प्रौद्योगिक, प्रायोगिक, विज्ञान, मेडीसीन, इंजिनियरिंग, वाणिज्य, कृषि, विधि आदि सभी विषयों का अध्ययन हिंदी में ही कराया जाय। उसके लिए सार्थक शब्दावली तैयार करें। तब तक अँग्रेजी के ही शब्दों को देवनागरी में लिखने की अनुमति दी जाए।

६) रेडियो तथा दूरदर्शन के माध्यम से हिंदी का एक पाठ्यक्रम हिंदीतर भाषियों के लिए लागू किया जाए।

७) कम्प्यूटर, फैक्स, इंटरनेट, इ-मेल आदि के लिए हिंदी का सरलीकरण करके उसका व्यवहार में प्रयोग करें।

८) हीनता की भावना दूर होनी चाहिए। भारतीय लोगों के मन में एक भावना दृढ़तर हो गयी है कि जिसे अँग्रेजी भाषा आती हो वह विद्वान होता है। अतः देश के अधिकांश विद्वान अँग्रेजी के पक्ष के हैं।

निष्कर्ष

स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीयता एवं स्वदेश की भावना इतनी तीव्र नहीं रही जितनी स्वतंत्रता के पूर्व थी। परिणामस्वरूप स्वभाषा--प्रेम की अपेक्षा नौकरी पाने की एवं नौकरी पर स्थायी प्रभाव जमाने की अभिलाषावृत्ति से हिंदी के प्रति ममत्व नहीं रह सका। राजकीय इच्छाशक्ति के अभाव से कोइ भी नेता राजभाषा हिंदी का प्रचार-प्रसार करने का महत् कार्य न कर सका। हिंदी का विरोध करनेवाले संपर्क भाषा या राजभाषा के रूप में विदेशी भाषा अँग्रेजी का समर्थन करते हैं तो यह मानसिक गुलामी का द्योतक है। अंग्रेजी में बोलने एवं लिखने अथवा अँग्रेजी को राजभाषा बनाने के अंतर को समझ लेना आवश्यक है। जनतंत्र में जनता की भाषा में ही राजकाज होना चाहिए। इससे संविधान का आदर भी किया जाएगा।

स्वतंत्र भारत में अँग्रेजी भाषा शिक्षा या शासन की माध्यम भाषा नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दी राजभाषा का स्थान ग्रहण ही नहीं करेगी, बल्कि देश की सभी व्यवसायिक माँगों की पूर्ति भी कर सकेगी। हमें यह भी स्वीकारना होगा कि हमारे देश के सांस्कृतिक तथा भाषिक परिवेश में अँग्रेजी हमारे लिए अनावश्यक और भाषिक गुलामी का प्रतीक है।

राजभाषा हिंदी के प्रति अत्यंत शीघ्रता से राष्ट्रीय स्तर पर निर्णय लेकर हिंदी को सही अर्थ में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए संपूर्ण शक्ति को उपयोग में लाने की आवश्यकता है। अतः हिंदी का प्रयोग प्रशासन में न होने के कारणों का पता लगाना होगा। जैसे, हिंदी आशुलिपिकों, टाइपिस्टों एवं लिपिकों की व्यवस्था संतोषजनक है या नहीं? कार्यालयों में कार्यान्वित कंप्यूटर की प्रणालियाँ ऐसी हो, जिसमें हिंदी में काम दे सकने की क्षमता हो। हिंदी के विद्वान, अधिकारी या कर्मचारी अपने दैनिक कार्यों एवं कार्यालयीन कार्यों में हिंदी का प्रयोग नहीं करते

क्योंकि अंग्रेजी में काम करना अधिक प्रतिष्ठाजनक समझते हैं। अतः हिंदी प्रेमी व्यक्ति को हिंदी के व्यवहार का क्षेत्र बढ़ाने के संबंध में संगठित तथा समन्वित रूप से सोचने की आवश्यकता है।

संदर्भ

१) डॉ. सुरेश माहेश्वरी—'राजभाषा हिंदी की पचास वर्षीय यात्रा' 'उपलब्धि' शोध पत्रिका में प्रकाशित शोध निबंध, पृ.७१, महाराष्ट्र हिंदी परिषद, दसवॉ अधिवेशन स्थल : पंढरपुर - २०००.

२) हरिबाबू कंसल—राजभाषा हिंदी संघर्षों के बीच, पृ. २३

३) हरदेव बाहरी—हिंदीः उद्भव, विकास और रूप, पृ. ३९

४) डॉ. अरूप कुमार इंगले—महाराष्ट्र राज्य में राष्ट्रीयकृत बैंकों में कार्यान्वित राजभाषा हिंदी—अप्रकाशित शोध प्रबंध-पृ.७(शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर)

५) राष्ट्रीयकृत कार्यालयों में कार्यान्वित राजभाषा हिंदी—समस्याएँ एवं समाधान (पंढरपुर तहसील स्थित कार्यालयों का अध्ययन) परियोजना, मार्च २००३, पृ. ३२

६) सुरेश कांत—बैंकों मे हिंदी का प्रयोग, पृ. ५४

रीडर, हिंदी विभाग,छ.शिवाजी कॉलेज, सातारा (महाराष्ट्र)

हिंदी भाषा : विविध संदर्भ

–शेर सिंह बिष्ट

भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है, जहाँ जातिगत, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता पायी जाती है, परंतु इस विविधता में अंतर्निहित एकता ही उसकी विशेषता है। भाषायी वैविध्य की दृष्टि से भारत में २५० से अधिक बोलियाँ/भाषाएँ बोली जाती हैं; उनमें जिन बाईस भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में स्थान दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—१. असमिया २. बंगला ३. गुजराती ४. हिंदी ५. कन्नड ६. कश्मीरी ७. मलयालम ८. मराठी ९. ओड़िया १०. पंजाबी ११. संस्कृत १२. सिंधी १३. तमिल १४. तेलुगु १५. उर्दू १६. नेपाली १७. कोंकणी १८. मणिपुरी १९. संथाली २०. बोडो २१. मैथिली २२. डोगरी। भारत कई राज्यों का संघ है। संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) के अनुसार संघ की राजभाषा हिंदी तथा लिपि देवनागरी है। संविधान के अनुच्छेद ३५१ में हिंदी भाषा के विकास के लिए कुछ निर्देश भी दिये गये हैं— "संघ का यह कर्तव्य होगा कि हिंदी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे, जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे"।[१]

संविधान के अनुच्छेद ३४३ (२) में यह भी प्रावधान किया गया है कि 'इस संविधान के प्रारंभ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले प्रयोग किया जाता रहा था"।[२] साथ ही संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतरराष्ट्रीय रूप होगा। ऐसा अनुमान लगाया गया कि इस अवधि के दौरान हिंदी भाषा शासन, विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के कार्यों को निष्पादित करने में सक्षम हो जाएगी।

ऐसा न हो पाने की स्थिति में संविधान के अनुच्छेद ३४३ (३) में संसद को यह भी अधिकार दिया गया कि पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त होने के पश्चात् भी, वह चाहे तो अंग्रेजी भाषा के प्रयोग को यथावत् रखने की, विधि द्वारा कोई उपबंध कर सकेगी। अनुच्छेद ३४६ में यह व्यवस्था दी गयी कि एक राज्य तथा दूसरे राज्यों के बीच तथा किसी राज्य और संघ के बीच पत्राचार में, संघ में शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किए जाने के लिए तत्सम प्राधिकृत राजभाषा का प्रयोग होगा। साथ ही दो या अधिक राज्य चाहें तो परस्पर शासकीय पत्रादि के लिए राजभाषा हिंदी का प्रयोग कर सकते हैं।

२६ जनवरी १९५० ई. को भारत का संविधान लागू हुआ, परंतु इससे पूर्व डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में संविधान सभा द्वारा २६ नवम्बर, १९४९ को स्वतंत्र भारत का संविधान स्वीकार किया गया। संघीय राजभाषा के सम्बन्ध में १२ और १३ सितंबर १९४९ को विचार हुआ। गोपाल स्वामी आयंगर ने राजभाषा के रूप में एक भारतीय भाषा के चुनाव का प्रस्ताव रखा। अधिकांश सदस्य हिंदी के पक्ष में बोले। कुछ लोग 'हिंदी' के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' नाम रखना चाहते थे। लिपि देवनागरी स्वीकृत कर ली गयी थी। हिन्दी नाम भी एक मत की अधिकता से स्वीकृत हो गया। इस दृष्टि से १४ सितम्बर का दिन एक ऐतिहासिक दिन था। इसी दिन अपराह्न में डॉ. के. एम. मुंशी ने अपना राजभाषा सम्बन्धी संशोधित प्रस्ताव पेश किया, जो सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इस तरह १४ सितम्बर १९४९ को भारत की संविधान सभा ने सर्वसम्मति से हिंदी को भारत संघ की राजभाषा घोषित कर दिया।

संविधान में हिंदी को संघ की राजभाषा घोषित करने के साथ यह भी उल्लेख किया गया कि अंग्रेजी भी १९६५ ई. तक राजभाषा के रूप में प्रयोग में लायी जाती रहेगी। हिंदी भाषा की समृद्धि एवं उसकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण १९६३ ई. में राजभाषा अधिनियम द्वारा हिंदी को एकमात्र राजभाषा घोषित किया गया था। लेकिन भारत के दक्षिणी प्रांतों-आंध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल आदि में अंग्रेजी को हटाने के विरोध में चलाये गये आंदोलनों के कारण इस अधिनियम में १९६७ ई. में संशोधन किया गया और अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में आगे तक बनाये रखने की नीति अपनायी गयी। इस तरह राजभाषा के दो स्तर गिनाये गये-

–हिंदी तथा अंग्रेजी, जिसमें हिंदी संघ की भाषा है। हिंदी को संघ की राजभाषा इस आधार पर घोषित किया गया कि वही इस बहुभाषी देश में विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले लागों के बीच संपर्क-सूत्र कायम कर सकती थी।

आज हिंदी भाषा का प्रयोग कई संदर्भों में हो रहा है। भौगोलिक संदर्भों में उसका प्रयोग हिंदी भाषी प्रदेशों में बोली जाने वाली १७-१८ बोलियों के समूह के संदर्भ में हो रहा है तो साहित्यिक संदर्भ में इसका प्रयोग ब्रज, अवधी, मैथिली, खड़ी बोली तथा थोड़ा बहुत राजस्थानी के संदर्भ में हो रहा है। प्रयोग विस्तार के संदर्भ में हिंदी भाषा खड़ी बोली का साहित्यिक या मानक रूप है, जो भारत संघ की राजभाषा के पद पर आसीन है।[३] राजनीतिक संदर्भों में हिंदी का प्रयोग राजभाषा एवं राष्ट्रभाषा के संदर्भ में हो रहा है तो व्यावहारिक दृष्टि से उसका प्रयोग सम्पर्क भाषा के रूप में हो रहा है, जो भारत की सामासिक संस्कृति की युगों से वाहक रही है तथा भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता की प्रतीक है। विश्व में भारत की पहचान भी हिंदीभाषी राष्ट्र के रूप में ही है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिंदी भाषा का निम्नांकित विविध संदर्भों में विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि उसके बहुआयामी स्वरूप को समझा जा सके—

१. हिंदी का अंतरराष्ट्रीय (वैश्विक) संदर्भ
२. हिंदी का सामाजिक संदर्भ
३. हिंदी का भाषा–समुदाय का संदर्भ
४. हिंदी का सामासिक संस्कृति का संदर्भ
५. हिंदी का ऐतिहासिक संदर्भ
६. हिंदी का सम्पर्क भाषा का संदर्भ
७. हिंदी का राष्ट्रभाषा का संदर्भ
८. हिंदी का राजभाषा का संदर्भ
९. हिंदी का पारिभाषिक संदर्भ
१०. हिंदी का प्रयोजनमूलक संदर्भ

१. हिंदी का अन्तरराष्ट्रीय (वैश्विक) संदर्भ

हिंदी न केवल भारत में अपितु भारत से बाहर के विश्व के कई देशों में बोली, समझी तथा पढ़ाई जाती है। मारीशस, फीजी, सूरीनाम, त्रिनीडाड, श्रीलंका,

चीन, हंगरी, पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, वियतनाम, सिंगापुर, जापान, अमेरिका, कनाडा, इंगलैण्ड, रूस, जर्मनी, चेकोस्लावाकिया, थाइलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, गियाना, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, इटली, तथा अरब देशों में हिंदी का सम्मान के साथ अध्ययन एवं अध्यापन का कार्य हो रहा है। इस समय विदेशों में लगभग १५० विश्वविद्यालयों में हिंदी के पठन-पाठन, अध्ययन एवं अनुसंधान की व्यवस्था है। साहित्यिक स्तर पर भी विश्व के कई देशों में हिंदी में न केवल शोधकार्य हो रहा है वरन् अनके विदेशी भाषाओं में हिंदी के उत्कृष्ट ग्रंथों का अनुवाद भी हो रहा है। अनेक देशों के प्रवासी भारतीयों को पत्र-पत्रिका, रेडियो दूरदर्शन आदि विभिन्न माध्यमों से भी हिंदी में काम करने के अवसर मिल जाते हैं।

पिछले सात विश्व हिंदी सम्मेलनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदी भारतीय भाषा मात्र न होकर, अंतरराष्ट्रीय भाषा भी है। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर (भारत) में (१० से १३ जनवरी १९७५ ई. तक) आयोजित किया गया, जिसे आयोजित करने में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का प्रमुख योगदान था। इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में हिंदी की उपलब्धियों एवं संभावनाओं पर विचार करना था। इसी सम्मेलन में डॉ. कर्ण सिंह (तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री) तथा काका साहेब कालेलकर की प्रेरणा से श्री दयानंदलाल वसंतराय ने हिंदी को संयुक्त राष्ट्रसंघ में अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता देने का प्रस्ताव रखा, जो सर्वसम्मति से पारित हुआ। इस सम्मेलन में विश्व के अनेक देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सबकी राय यही थी कि जब यूनेस्को ने हिंदी को अपने यहाँ स्थान दे दिया है तो उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में भी विश्व की छह अन्य विश्वभाषाओं के साथ अंतरराष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थान मिलना चाहिए। हिंदी का फैलाव विश्व स्तर पर व्यापक रूप से हो चुका है। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से आज हिंदी का दुनिया में अंग्रेजी के बाद दूसरा स्थान है। किसी भी भाषा को अंतरराष्ट्रीय प्रामाणिकता उसके बोलनेवालों की संख्या की शक्ति से ही मिलती है तथा हिंदी वह स्थान प्राप्त कर चुकी है।

विश्व में हिंदी के प्रचार-प्रसार तथा उसे अंतरराष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने में प्रवासी भारतीयों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। प्रारंभ में अंग्रेज लोग जिन गरीब

भारतीयों को मजदूर बनाकर विश्व के तमाम देशों में ले गये अथवा जो लोग आजीविका की खोज में विदेशों में (खासकर समुद्रतटीय देशों में) चले गये तथा मजबूरी में वहीं बस गये वे उन-उन देशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार का माध्यन बने, क्योंकि वे अपने साथ अपनी मातृभाषा हिंदी तथा अपनी संस्कृति को भी ले गये। ये लोग अपने साथ तुलसी रामायण तथा अपने लोकगीत भी ले गये। मारीशस, सूरीनाम, फिजी, त्रिनिडाड आदि देशों में जहाँ भारतीय मूल के लोग बसे हैं, तुलसी की रामायण तथा हिंदी के कारण ही अपनी संस्कृति की रक्षा कर सके हैं। इन देशों में हिंदी की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं। मारीशस में तो बकायदा 'भोजपुरी साहित्य' भी लिखा जाता है।

विभिन्न देशों के बीच अच्छे पारस्परिक सम्बंधों के लिए भाषा का सम्बंध आवश्यक होता है। भाषा का संस्कृति के साथ अभिन्न सम्बंध है। इसी कारण भाषिक संबंधों के द्वारा हम किसी देश के साथ सांस्कृतिक संबंध भी स्थापित कर सकते हैं। इसलिए कई देश, दूसरे देशों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए उस देश की भाषा–संस्कृति को सीखने में विशेष रुचि रखते हैं। अमेरीका की कैरीन शोमर का कहना है कि–"अमरीका को नव स्वतंत्र देशों को समझने की आवश्यकता के कारण वहाँ की भाषाएँ सीखने की प्रेरणा मिली। हिंदी और भारत की अन्य भाषाएँ न केवल भाषा सीखने के लिए पढ़ायी जाती हैं अपितु इस उद्देश्य से भी कि दुनिया के इस विशाल लोकतंत्र के जनजीवन को अमरीका के लोग अधिक निकटता के साथ देख सकें। अमरीका के लोग भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रति जिज्ञासा के कारण भी हिंदी सीखना चाहते हैं। भारतीय धर्मगुरु वहाँ हिंदी के अच्छे प्रचारक हैं"।

यही कारण था कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही अमरीका में हिंदी पढ़ने का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ था और आज वहाँ लगभग ३३ से अधिक केन्द्रों में हिन्दी के अध्ययन–अध्यापन का कार्य चल रहा है। कनाडा के कोलम्बिया तथा टोरेन्टो विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन–अध्यापन कार्य होता है। सोवियत रूस में बच्चे हिंदी का बड़े प्रेम से अध्ययन करते हैं। पाठ्य-पुस्तकें भी वहाँ के हिंदी विद्वानों द्वारा स्वयं तैयार की जाती हैं तथा विभिन्न केन्द्रों में हिंदी विशेष रूप से पढ़ाई जाती

है। गियाना में वेद अब तक सुरक्षित हैं तथा वहाँ की भाषा में हिंदी का पुट दिखाई देता है। स्वीडन में संस्कृत का अध्ययन सन् १९३८ से हो रहा है तथा सन् १९५९ से हिंदी, बंगला, तमिल आदि भाषाएँ वहाँ सिखाई जा रही हैं। इस प्रकार ज्ञान एवं संस्कृति के आदान-प्रदान की दृष्टि से भी विश्वभाषा के रूप में हिंदी का विकास हो रहा है।

अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि अंग्रेजी ही अंतरराष्ट्रीय भाषा है और उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, जबकि चीन, रूस, फ्रांस आदि देशों ने अपनी भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाकर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की है। अतः हमें उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब हम भी विज्ञान एवं औधोगिक विकास की बातें हिंदी में कर सकेंगे।

दरअसल हिंदी ही विश्व में भारतीय संस्कृति की संवाहिका भी है। सांस्कृतिक संवाहिका के रूप में उसका विशेष स्थान है। विश्व स्तर पर हिंदी को शक्तिशाली भाषा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश–विदेश में भी हिंदी की समाचार एजेन्सियों व टेलीप्रिंटर सेवाओं की व्यवस्था हो तथा हिंदी अखबारों को अंग्रेजी खबरों के अनुवाद पर भी निर्भर न रहना पड़े। इलक्ट्रॉनिक मीडिया के द्वारा भी हिंदी को व्यापक पैमाने पर लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

आज यूनेस्को की सात भाषाओं में हिंदी को स्थान प्राप्त है तथा यूनेस्को द्वारा प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य हिंदी में भी प्रकाशित किया जाता है। यूनस्को ने शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति तथा अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रकाशनों का हिंदी में अनुवाद भी करवाया है। इस प्रकार राष्ट्रीय पृष्ठभूमि से ऊपर उठ कर हिंदी अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में भी अपना स्थान बना चुकी है। आज विदेशों में 'इंडियन भाषा' का मतलब 'हिंदी' होता है। अतः हम हिंदी के माध्यम से ही अपनी विश्वचेतना के विषय में विदेशियों को परिचित करा सकते हैं।

२. हिंदी का सामाजिक संदर्भ

भाषा समाजसापेक्ष प्रतीक व्यवस्था है और उसकी प्रकृति में ही सामाजिक तत्व अंतर्भुक्त रहते हैं। निश्चित सामाजिक संदर्भों में उचित भाषा प्रयोग की क्षमता भी मनुष्य के संप्रेषण सामर्थ्य के केंद्र में होती है। संप्रेषण व्यवस्था समाजसापेक्ष

होती है जो सामाजिक संकल्पना और मानव की धारणा को व्यक्त करती है। मानव का अनुभव, उसका चिंतन तथा व्यवहार अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित, प्रभावित तथा प्रेरित होता है, हालाँकि वह सामाजिक मान्यताओं के विपरीत भी चिंतनरत हो सकता है। समाज से मानव का संबंध भाषा द्वारा सम्पन्न होता है जो उसके व्यवहार, चिंतन एवं अनुभव को संयोजित एवं पुष्ट भी करती है, साथ ही विभिन्न सामाजिक तत्व भाषा-व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं।

सामाजिक वर्ग-व्यवस्था के कारण उनमें भाषिक स्तर-भेद भी पाया जाता है। अतः मजदूर, शिक्षक व विद्वान की भाषा एक-सी नहीं हो सकती। उच्च वर्ग, मध्य वर्ग व निम्न वर्ग की भाषा में अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। अतः एक ही कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी, जो उपर्युक्त अलग-अलग वर्ग से सम्बन्धित होंगे, उनकी भाषा में अंतर के साथ-साथ, वर्ग चेतना के गुण भी विद्यमान रहेंगे। इस कारण सामाजिक स्तर पर भेद से भाषागत स्तरभेद भी देखने को मिलता है।

यह भाषागत भेद जीवन के विभिन्न स्तरों पर भी पाया जाता हैं, जैसे– नाते रिश्ते की शब्दावली, टैबू शब्दावली, दैनिक बोलचाल, रहन-सहन, खान-पान आदि सभी तरह की शब्दावली में स्तरगत अंतर दिखायी देता है। इसी तरह 'सम्बोधन' करने वाली शब्दावली में भी सामाजिक पृष्ठभूमि, शिक्षा आदि के अनुरूप शिष्ट एवं ग्रामीणता देखने को मिलेगी। आत्मीयता और औपचारिकता के लिए भी अलग-अलग संबोधन होंगे।

३. हिंदी का भाषा-समुदाय का संदर्भ

हिंदी भाषी समुदाय, एक बहु-बोली समुदाय है। भौगोलिक दृष्टि से इसकी सीमाएँ- पंजाबी, गुजराती, मराठी और बंगला भाषा-भाषी समुदायों को छूती हैं। सीमावर्ती समीपस्थ बोलियों में पारस्परिक बोधगम्यता रहती है, परंतु दूरस्थ बोलियों *में बोधगम्यता नहीं रहती, जैसे–मारवाड़ीभाषी मगही नहीं समझ सकता*, न मगही भाषी मारवाड़ी समझ सकता है।

राजनीतिक दृष्टि से हिंदी सात राज्यों–बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की राजभाषा है। मानक भाषा खड़ीबोली हिंदी है। हिंदी की बोलियाँ मुख्य रूप से इन्हीं राज्यों में बोली जाती हैं।

इस क्षेत्र के प्रायः सभी भाषा-भाषी मानक हिंदी को समझते हैं। सभी सामाजिक, औपचारिक एवं साहित्यिक संदर्भों के लिए मानक हिंदी का प्रयोग होता है। हिंदी में शिक्षा प्राप्ति का माध्यम भी मानक हिंदी ही है। हिंदीभाषी क्षेत्रों में माध्यमिक स्तर तक मानक हिंदी अनिवार्य ही है। स्थानीय बोलियाँ तो केवल घरेलू स्थितियों अथवा स्थानीय संदर्भों के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं।

हिंदी-भाषी क्षेत्रों में भाषा-भेद के तीन स्तर पाए जाते हैं जो सामाजिक प्रयोजनों से नियंत्रित होते हैं–१. सबसे निम्न स्तर पर स्थानीय या ग्रामीण बोली का प्रयोग होता है, जिसका प्रयोग प्रायः घर या ग्रामीण समुदाय में होता है २. दूसरा स्तर उपभाषाओं का हैं–जो ग्रामीण बोलियों के ऊपर है। जब कुछ ग्रामीण बोलियों का एक विचार-विनिमय केन्द्र बनता है तो उपभाषा का रूप बनता है। इसी उपभाषा के रूप में अपने –अपने उपभाषायी क्षेत्रों में ब्रज, अवधी या मैथिली आदि का मानक रूप निर्धारित होता है। ३. तीसरा स्तर 'मानक हिंदी' का है, जिसका प्रयोग औपचारिक संदर्भो–शिक्षा, सामाजिक सम्प्रेषण,राजभाषा या सम्पर्क भाषा के रूप में होता है।

४.हिंदी का सामासिक संस्कृति का संदर्भ

भाषा और संस्कृति का अटूट संबंध है। हिंदी सामसिक संस्कृति की द्योतक है। हिंदीभाषी प्रदेशों में हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई,बौद्ध-जैन तथा जनजातियाँ साथ-साथ रहती हैं,जिससे वे एक-दूसरे की संस्कृतियों को अपने में आत्मसात् किए रहती हैं। यही कारण है कि अन्य धर्मों की सांस्कृतिक शब्दावली का हिंदी में पर्याप्त भंडार है तथा हिंदी की आज की वर्ण-ध्वनियों में प्रादेशिक, फारसी व युरोपीय ध्वनियाँ सम्मिलत हैं। बैंजमिन वूर्फ का विचार था कि–'जहाँ संस्कृति और भाषा साथ-साथ विकसित होती हैं, उनके संबंध व्याकरण में सामान्य रूप से प्रकट होने लगते हैं क्योंकि भाषा का शब्द-भंडार उस समाज के भौतिक और सामाजिक परिवेश का परिचायक होता है।'

संस्कृत भाषा हिंदी तथा कई अन्य प्रान्तीय भाषाओं की जननी है। यही कारण है कि आर्य भाषा परिवार की प्रादेशिक भाषाओं–हिंदी, ओड़िया, असमी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के शब्द-भंडार में संस्कृति के शब्द प्रचुर मात्रा में

पाये जाते हैं। द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएँ-तमिल, तेलुगु, कन्नड़ व मलयालम का शब्द-भंडार भी संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित है। भारत की सभी भाषाओं में संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण, हिंदी के शब्द-भंडार में भी ऐसे शब्दों की प्रचुरता है, जिनका प्रयोग तत्सम एवं तद्भव के रूप में देश की सभी भाषाओं में होता है।

संस्कृत,प्राकृत और अपभ्रंश के उत्तराधिकारी के रूप में हिंदी का प्रयोग इस देश के अंतर्प्रान्तीय व्यवहार के माध्यम के रूप में होता रहा है। एक प्रमुख सम्पर्क भाषा होने के कारण, हिंदी का संबंध देश की अन्य भाषाओं तथा उन विदेशी भाषाओं के साथ भी रहा है, जो विदेशियों के भारत में आने के कारण आयीं। इसी कारण हिंदी में स्वदेशी एवं विदेशी भाषाओं के शब्दों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति रही है जिसके कारण हिंदी का शब्द-भंडार समृद्ध हुआ है। अरबी-फारसी एवं अंग्रेजी की प्रचुर शब्दावली को हिंदी ने आत्मसात् कर लिया है। अपनी इसी प्रकृति के कारण देश की सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति में हिंदी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

हिंदी का संबंध किसी विशेष धर्म, जाति,सम्प्रदाय के लोगों से नहीं रहा है, वरन् इसके साहित्य की समृद्धि में देश के विभिन्न क्षेत्रों के साहित्यकारों तथा विभिन्न धर्म एवं जाति के लोगों का योगदान है। लगभग एक हजार वर्षो से हिंदी इस देश के विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों की सम्पर्क भाषा एवं धार्मिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक केन्द्रों में आदान-प्रदान एवं संवाद का माध्यम रही है। उसके इसी देशव्यापी संपर्क के कारण विभिन्न प्रांतों के संतों, महात्माओं एवं साधकों ने हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बंगाल के सिद्धों एवं नाथपंथी संत-महात्माओं, गोरखनाथ जैसे साधकों एवं सूफी संतों ने अपने सिद्धान्तों तथा उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए हिंदी का सहारा लिया।

इन संतों का कार्यक्षेत्र पूरा भारत था। महाराष्ट्र में नामदेव, गहनीनाथ, मुक्ताबाई आदि संतों ने मराठी के साथ-साथ हिंदी में रचनाएँ की। हिंदीतर भाषी क्षेत्रों के बहुत से कवियों एवं महात्माओं ने भक्ति आंदोलन द्वारा भारतीय जीवन-दर्शन को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया। महाराष्ट्र के एकनाथ, तुकाराम,

रामदास आदि संतों एवं लोकगीतकारों ने हिंदी में रचनाएँ कीं। गुजरात के भालण, दयाराम आदि भक्तों ने हिंदी का सहारा लिया। बंगाल के शासक हुसैन शाह के आश्रित कवि कुतुबन ने 'मृगावती' नामक प्रेमाख्यानपरक काव्य लिखा। असम के शंकरदेव और नारायणदेव ने हिंदी में भक्तिपरक पदों की रचना की। पंजाब के गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह आदि सिक्ख गुरुओं ने मुक्तक एवं प्रबंध काव्यों के माध्यम से भक्तिभावना की अभिव्यक्ति की।

सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति की दृष्टि से दक्खिनी हिंदी में लिखा गया साहित्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दक्खिनी हिंदी के कवियों एवं लेखकों नें संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूपों के साथ स्थानीय भाषा के शब्दों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों को अपनाया। डॉ. दशरथ ओझा ने अपनी पुस्तक हिंदी नाटक कोश में ऐसे दर्जनों नाटकों का उल्लेख किया है जो मध्ययुग में हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों में लिखे गए, जिनकी भाषा मिश्रित हिंदी होती थी। १९वीं शती में आंध्रप्रदेश में बहुत-सी ऐसी नाटक मंडलियाँ थीं, जो हिन्दी नाटकों का मंचन करती थीं। तंजारे के राजा शाह जी (सन् १६४७ से १७११) ने 'विश्वातीत विलास' और 'राधा वंशीधर विलास' नाम से दो नाटकों की रचना की। यक्षगान शैली में लिखे गये इन हिन्दी नाटकों का तंजोर में कई बार अभिनय हुआ। १७०० ई.के आस-पास गुरु गोविन्द सिंह रचित 'विद्याविलास' नाटक अहिन्दी क्षेत्रों के लिखे नाटकों में प्रमुख हैं। इन नाटकों में देश की मिली-जुली कविता में तत्कालीन हिंदी की खड़ी बोली का रूप स्पष्ट देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त रसखान जैसे मुसलमान भक्त कवियों एवं जायसी जैसे सूफी संतों ने सांस्कृतिक समन्वय का परिचय दिया। हिंदी के भक्तिपरक गीतों ने भी हिंदी के प्रचार-प्रसार में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। कबीर के 'सबद', मीरा, सूर तथा विद्यापति आदि भक्त कवियों के गीतों एवं पदों को देश के विभिन्न भागों में काफी लोकप्रियता मिली।

बीजापुर के शासक इब्राहिम अली आदिल शाह (१५८०-१६२६) ने उत्तर भारत के बहुत से संगीतकारों को बीजापुर आमंत्रित कर, उनके रहने के लिए 'नव रसपुर' नामक नया नगर बनवाया। रामेश्वरम्, कन्याकुमारी, काशी, द्वारिका, पुरी

आदि तीर्थस्थानों में यातायात के साधन उपलब्ध न होने पर भी बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते थे। केरल आदि कई राज्यों ने तीर्थयात्रियों के लिए जगह-जगह धर्मशालाएँ बनायी थीं। इस तरह उस युग में राजनीतिक एकता न होने पर भी सांस्कृतिक एकता बराबर बनी रही। जहाँ एक ओर हिंदी के विकास में विविध धर्मों सम्प्रदायों एवं विविध भाषा-भाषियों का योगदान रहा है, वहीं हिंदी भारत की सांस्कृतिक समन्वय की सशक्त कड़ी के रूप में विकसित हुई है।

५. हिंदी का ऐतिहासिक संदर्भ

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही हिन्दी को राजभाषा का दर्जा मिला हो, ऐसी बात नहीं है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने हिंदी साहित्य का प्रारंभ दसवीं शताब्दी से माना है। चन्दबरदाई द्वारा अपभ्रंश भाषा में ११७८ ई. के आस-पास रचित ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। चन्दबरदाई पृथ्वीराज चौहान के सेनानायक तथा राजकवि थे। दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान के राजकाज की भाषा 'अपभ्रंश' थी।[४] प्राचीन भारत में राजभाषा ही काव्यभाषा भी हुआ करती थी। भारत में मुगल शासन स्थापित हो जाने पर भी हिंदी के प्रचार-प्रसार में कोई कमी नहीं आयी, वरन् काफी समय तक हिंदी राजकाज की भाषा बनी रही।

मुगल शासनकाल में हिंदी का प्रचार दक्षिणी भारत में भी होने लगा। मुसलमानों का दक्षिणी प्रांतों में भी शासन होने के कारण, फारसी और हिंदी जानने वाले उनके कर्मचारी काफी संख्या में दक्षिण गये। खिलजी वंश का १२ वीं सदी में दक्षिण के देवगिरी, बंगाल, मद्रास आदि स्थानों पर शासन था। मुहम्मद तुगलक द्वारा राजधानी दिल्ली से दौलताबाद बदलने के कारण भी उत्तर भारत से गये सैनिकों व कर्मचारियों ने हिंदी भाषा में अपना काम चलाया। इस तरह दक्षिण की बोलियों के मिश्रण से हिंदी का जो रूप बना उसे 'दक्खिनी हिंदी' नाम दिया गया। दक्षिण के बीजापुर, गोलकुण्डा तथा आस-पास के क्षेत्रों में इसी हिंदी का प्रचलन हुआ। यही 'दक्खिनी हिंदी' यहाँ के राज्यों की राजकाज की भाषा बनी।डॉ. बाबूराम सक्सेना के अनुसार-'बहमनी राज्य के दफ्तरों में हिंदी जबान प्रचलित थी और सल्तनत ने उसे सरकारी जबान का पद दे रखा था। बहमनी राज्य के छिन्न-

भिन्न हो जाने पर भी हिंदी का पद उत्तराधिकारी रियासतों ने कायम रखा।[५]

यद्यपि मुसलमान शासकों ने दिल्ली में अधिकार पाने के साथ ही 'फारसी' को राजकाज की भाषा बनाना प्रारंभ कर दिया , परंतु जनभाषा हिंदी को भी यथावत् बनाए रखा। १५४० ई. में शेरशाह सूरी ने जब दिल्ली पर अधिकार कर लिया तो उसने अपने शासनकाल में मुद्रा व्यवस्था को व्यस्थित करने के लिए सिक्के ढलवाए और सिक्कों पर नागरी व फारसी में उसका नाम खुदा रहता था।[६] मुस्लिम शासक इब्राहिम आदिल की मातृभाषा हिंदी नहीं थी, परंतु उसने अपने प्रशासन से फारसी को समाप्त कर, हिंदी को राजकाज की भाषा बनाया। डॉ. शिवराज वर्मा के अनुसार 'मुस्लिम विजेताओं ने इस बात को अनुभव कर लिया था कि हिंदी देश की सम्पर्क भाषा है, इसलिए उन्होंने इसके प्रयोग को जारी रखा। मुगल बादशाह, विशेषतः अकबर और जहाँगीर हिन्दुओं के साथ घुल-मिलकर रहते थे। वे उनके पर्वों एवं त्योहारों में भाग लेते थे। जनता से निकट संबंध स्थापित करने के लिए उनकी भाषा का आश्रय लेते होंगे।[८]

इन मुगल शासकों के दरबार में हिंदू और मुसलमान दोनों जातियों के उच्चकोटि के कवियों को आश्रय प्राप्त था। मध्यकाल तक हिंदू और मुसलमानों के बीच सामंजस्य एवं सौहार्द्र कायम हो चुका था। अधिकांश मुगल शासक हिंदी प्रेमी थे तथा हिंदी को राजभाषा का स्थान मिला हुआ था। इस संबंध में डॉ. हरदेव बाहरी ने लिखा है—"मुसलमान बादशाहों के शासनकाल में चार-पाँच शताब्दी तक शासनकार्य का माध्यम हिंदी थी। मध्यकालीन शासन व्यवस्था के प्रसिद्ध जानकार ब्लाख मैन ने सन् १८७१ ई. के 'कलकत्ता रिव्यू' में लिखा था कि मालगुजारी को इकट्ठा करना और जागीरों का प्रबंध करना, उस समय बिल्कुल हिंदुओं के हाथ में था और इसलिए निजी तथा सर्वसाधारण के हिसाब-किताब सब हिंदी में रखे जाते थे"।[९] डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार भी–'सम्राट अकबर के काल तक हिन्दी एक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक प्रयोग की भाषा बन गयी। अकबर ने ब्रजभाषा में दोहे लिखे और उस समय उत्तर भारत की 'बादशाही बोली' निश्चय ही ब्रजभाषा थी। बोलचाल के अतिरिक्त तब तक उर्दू का अस्तित्व ही नहीं था, और जो थी भी, वह पूर्णतया भारतीय थी'।[१०]

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि फारसी को राजकाज की भाषा बनाने में विशेष पहल सम्राट अकबर के नवरत्नों में से एक राजा टोडरमल चोपड़ा ने की थी, जो हिंदू था तथा जिसकी मातृभाषा फारसी नहीं, हिंदी थी। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"महाराज टोडरमल कुछ दिन शेरशाह के यहाँ उँचे पद पर थे, पीछे अकबर के समय में भूमिकर विभाग में मंत्री हुए—ये कुछ दिनों तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये जाति के खत्री थे। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिंदी के स्थान पर फारसी का प्रचार किया"।[११] अतः शाही दरबार से जो भी फरमान निकलते थे, उनकी भाषा फारसी मिश्रित हिंदी होती थी।

अकबर के बाद भी परवर्ती मुगल शासकों ने फारसी के साथ हिंदी को राजकाज की भाषा बनाए रखा। औरंगजेब जैसे क्रूर एवं धर्मान्ध के शासनकाल में भी हिंदी राजभाषा फारसी के साथ-साथ चलती रही।[१२] उन दिनों मुगल बादशाहों के कार्यालयों में अलग हिंदी विभाग होता था, जिनमें सेक्रेटरी एवं दीवान के पद पर हिंदी के अच्छे जानकार नियुक्त होते थे। जनता अथवा सामन्तों को संबोधित करते समय मुगल शासक अधिकतर हिंदी का ही प्रयोग करते थे। राजपूत और मराठा राज्यों में हिंदी का प्रयोग तो धड़ल्ले से हो रहा था, लेकिन मुसलमान शासक भी हिंदी के बढ़ते प्रभाव एवं महत्त्व को नकार न सके। इस तरह हिंदी उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर भी फैलती चली गई। केरल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर के अनुसार-कोचीन के शासकों एवं टीपू सुल्तान के बीच एक संधि हुई थी, जिसके अनुसार राजा के परिवार के सदस्यों को हिंदुस्तानी सीखना अनिवार्य था। १८ वीं शताब्दी में केरल के राज्यों के प्रशासन में हिंदी या हिन्दुस्तानी का महत्वपूर्ण स्थान था तथा मुसलमान शासकों के राज्यों से पत्र-व्यवहार में प्रशासन की सहायता के लिए हिंदुस्तानी मुंशियों की नियुक्ति की जाती थी।

इसके अलावा जिस तरह से महात्मा बुद्ध ने अपने धर्मप्रचार के लिए संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा पालि को अपनाया, उसी प्रकार मध्ययुग में निर्गुणमार्गी संतों, वैष्णव भक्तों, धर्म-प्रचारकों एवं समाज-सुधारकों ने भी लोक-भाषा राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी आदि को अपने धर्म एवं मत-मतांतर के प्रचार का माध्यम बनाया। दक्षिण से वैष्णव भक्ति आंदोलन जब उत्तर भारत में फैला

तो उसका प्रचार जनभाषा में हुआ। मराठी के संत तुकाराम,नामदेव, ज्ञानेश्वर, आंध्र के वेमन्ना आदि हिन्दीतर प्रदेशों के संतों ने अपने विचारों को हिंदी में व्यक्त किया। गुजरात में वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्टलनाथ आदि ब्रजभाषा की ओर आकर्षित हुए और ब्रजभाषा में अपनी रचनाओं से वहाँ की जनता में हिंदी के प्रति आकर्षण पैदा किया। गुजरात के वैष्णव भक्त कवियों-भालण, केशवराम, बैजू बावरा, नरसिंह मेहता, दयाराम, हरखदास आदि तथा गुजराती सूफी एवं जैन कवियों ने भी हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छ के राजा हिंदी कवियों को आश्रय देते थे तथा स्वयं भी हिंदी में कविता करते थे। गुजरात में दक्खिनी हिंदी भी प्रचलित है। कृष्णभक्ति-आंदोलन की गुजरात में लोकप्रियता के कारण वहाँ ब्रजभाषा के गीत जनप्रिय हुए।[१३]

गुजराती पंडित स्वामी दयानंद सरस्वती ने वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार तथा समाज सुधार की दृष्टि से १८५७ ई. में पंजाब में आर्य समाज की स्थापना की तथा अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिंदी में लिखा। असम में शाक्त मत तथा बाद में वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण हिंदी आयी। वहाँ के चाय बागानों में हिंदी भाषी मजदूरों के काम करने तथा वहाँ बसने के कारण भी हिंदी का प्रचलन बढ़ा। देश के तमाम धार्मिक केन्द्रों एवं तीर्थस्थलों में हिंदी भाषी लोगों की आवाजाही के कारण भी हिंदी के प्रचार-प्रसार को बढ़ावा मिला।

मध्ययुग में व्यापार एवं उद्योग के क्षेत्र में हिंदी का व्यापक रूप से प्रयोग होता था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत में हमेशा व्यापारिक संबंध बना रहा। इन केन्द्रों में विभिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच विचारों के आदान-प्रदान या सम्पर्क की भाषा हिंदी थी। इब्नबतूता के अनुसार १३ वीं सदी में पश्चिमी समुद्र तटों पर अरब देशों के साथ व्यापार होता था। बड़ी संख्या में विभिन्न भागों से आये लोगों के बीच आदान-प्रदान की भाषा भी हिंदी थी।

आधुनिक युग में हिंदी को देश के कोने-कोने में प्रचारित-प्रसारित करने में तत्कालीन अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिनमें प्रमुख हैं-ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, सनातन धर्म सभा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, थियोसोफिकल सोसायटी, हिंदी साहित्य सम्मेलन

प्रयाग, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा मद्रास, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, बंबई हिंदी विद्यापीठ महाराष्ट्र, राष्ट्रभाषा सभा पुणे, हिंदी विद्यापीठ देवघर, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति गुवाहाटी, हिंदी प्रचार सभा हैदराबाद, मैसूर हिंदी प्रचार परिषद् बंगलौर, केरल हिंदी प्रचार सभा त्रिवेन्द्रम, कर्नाटक महिला हिंदी सेवा समिति बंगलौर, ओड़ीसा राष्ट्रभाषा परिषद् पुरी, सौराष्ट्र हिंदी प्रचार समिति राजकोट, मणिपुर हिंदी परिषद् इंफाल, नागरी लिपि परिषद् दिल्ली, अखिल भारतीय हिंदी संस्था आदि। इन संस्थाओं ने हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिलाने तथा उसे सम्पर्क भाषा एवं राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचारित एवं विकसित करने में अपनी अहम् भूमिका निभायी है। प्रारंभ से लेकर आज तक हिंदी पूरे देश में अपने विविध रूपों में प्रचार-प्रसार पाती रही है, जिसमें उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि विशेष सहायक रही है। इस प्रकार हिंदी को देश में व्यापक बनाने में धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यापारिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

६. हिंदी का सम्पर्क भाषा का संदर्भ

सम्पर्क भाषा से तात्पर्य उस भाषा से है जो समाज के भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोगों के बीच सम्पर्क करने के काम आती है। इस दृष्टि से हिंदी प्राचीनकाल (अपभ्रंश युग) से ही भारत की सम्पर्क भाषा रही है। वर्तमान में हिंदी राजभाषा घोषित होने के कारण प्रशासन तथा सामान्य जनता एवं विभिन्न निकायों-कार्यालयों, मंत्रालयों, विभागों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिए औपचारिक रूप से भी सम्पर्क भाषा है। व्यावहारिक रूप से भी हिंदी इस समय देश के लोगों के बीच मुख्य सम्पर्क भाषा है। भारत में राष्ट्रीय भाषा की दृष्टि से हिंदी का स्थान सर्वोपरि है और आज उसने व्यापक जनभाषा का रूप ले लिया है।

जनभाषा के रूप में हिंदी समूचे भारत में प्लेटफार्मों, तीर्थस्थलों, ऐतिहासिक स्थानों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, पर्यटन केन्द्रों, सार्वजनिक स्थानों आदि में तो प्रयुक्त होती ही है, फिल्मों तथा, विभिन्न टी.वी, चैनलों में भी इसका जनभाषा रूप निखरा है। हिंदी भारत की एकता की भाषा है। वर्तमान में देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति में हिंदी के अलावा कोई भाषा समर्थ नहीं हैं। जनभाषा के

रूप में यह भारत को एकता के सूत्र में बाँधने की भाषा है, जबकि सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में यह सरकार और जनता के बीच सम्पर्क स्थापित करती है। हिंदी का यह जनभाषा और राजभाषा का रूप भारत की आजादी के बाद का ही नहीं है, वरन् वह सदियों से चली आ रही परंपरा का विकसित रूप है। हिंदी सदियों से सम्पर्क भाषा के साथ-साथ, राजकाज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक भाषा-प्रवाह में हिंदी का सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह आज हिंदी केवल उन लोगों की ही भाषा नहीं है जिनकी वह मातृभाषा है, बल्कि वह भारत के समस्त नागरिकों की भाषा बन गई है। अतः सारे भारतवासियों को हिंदी को अपनाना इसलिए भी जरूरी है कि इसमें सारे राष्ट्र का सम्मान व भलाई निहित है। आज के युग में किसी भी राष्ट्र की एक 'जनभाषा' का होना आवश्यक है जो जनसम्पर्क एवं अपनत्व की भाषा होती है, उसी में जब श्रेष्ठ साहित्य की रचना होने लगती है तो वही जनभाषा विशिष्ट भाषा का दर्जा हासिल कर लेती है और अपने साहित्य के माध्यम से पूरे राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने में भी सक्षम होती है।

७. हिंदी का राष्ट्रभाषा का संदर्भ

किसी भी स्वतंत्र एवं सम्प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र के लिए अन्य प्रतीकों के अलावा, तीन प्रतीक मुख्य हैं–१. राष्ट्रध्वज २. राष्ट्रगानं ३. राष्ट्रभाषा। ये तीनों ही किसी राष्ट्र की पहचान होते हैं। इनका सम्मान ही राष्ट्र का सम्मान है। इनमें भी महत्वपूर्ण 'राष्ट्रभाषा' है। किसी भी राष्ट्र की राजनीतिक एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, जिसके माध्यम से पूरे राष्ट्र के लोग परस्पर सम्पर्क स्थापित कर सकें तथा संपूर्ण विश्व में भी उस राष्ट्रभाषा के नाम से वह देश जाना जा सके। बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र गूँगा होता है। देश की भावात्मक एकता की दृष्टि से भी एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है। एक राष्ट्र के प्रशासन, विज्ञान, विधि आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था अनेक भाषाओं में संभव नहीं हो सकती। उनका अनेक भाषाओं में रूपान्तरण करना भी व्ययसाध्य होता है, अतः राष्ट्रीय स्तर पर एक भाषा होनी चाहिए।

भाषा किसी देश के चरित्र का दर्पण होती है। भाषा के माध्यम से एक

समस्त संस्कृति एवं समाज दृष्टिगोचर होता है। परंतु स्वतंत्र भारत की संवैधानिक दृष्टि से किसी एक राष्ट्रभाषा का न होना दुर्भाग्यपूर्ण है, जबकि हिंदी पूरे देश की सम्पर्क भाषा एवं जनभाषा है। एक स्वतंत्र राष्ट्र में शासन और जनता की भाषा अलग-अलग हो, यह एक विडम्बना ही है। आजादी के आन्दोलन में हिंदी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक थी तथा हिंदी में राष्ट्रभाषा होने के सभी गुण विद्यमान थे। पंरतु भारत के आजाद होने पर जब राष्ट्रभाषा की व्यवस्था का प्रश्न आया तो किन्हीं विशेष दबावों के कारण हिंदी को 'राष्ट्रभाषा' का दर्जा न देकर केवल 'राजभाषा' नाम दिया गया। तर्क यह दिया गया कि हिंदी को 'राष्ट्रभाषा' घोषित करने से अन्य प्रान्तीय (भारतीय) भाषाएँ उपेक्षित हो जाएँगी तथा उनका विकास अवरुद्ध हो जाएगा। हिंदी को राष्ट्रभाषा के स्थान पर सम्पर्क भाषा और राजभाषा का नाम दिया गया । इस प्रकार स्वतंत्र भारत में 'राष्ट्रभाषा' जैसी कोई व्यवस्था संविधान में नहीं है।

किसी राष्ट्र की भाषा को 'राष्ट्रभाषा' कहते हैं। राष्ट्र से अभिप्राय–एक भौगोलिक सीमा में आबद्ध वह भू-भाग, जो राजनीतिक दृष्टि से संप्रभु हो, तथा जहाँ की सभ्यता, संस्कृति, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परंपरा में एकरूपता हो। हर राष्ट्र की अपनी राष्ट्रभाषा होती है। जैसे– इंग्लैण्ड की अंग्रेजी, चीन की चीनी, फ्रांस की फ्रैंच आदि। इजरायल जैसे देश ने अपनी तथाकथित मुर्दा भाषा 'हिब्रू' को न केवल अपने देश की राष्ट्रभाषा घोषित कर रखा है, वरन् विश्व की समग्र नयी जानकारी, आधुनिकतम ज्ञान-विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा भी उसमें उपलब्ध करायी है।

अपनी एक राष्ट्रभाषा न होने से भारतीयों को विदेशों में किस तरह से अपमानित होना पड़ता है, इसके कई दृष्टांत अतीत से लेकर वर्तमान तक देखने को मिलते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब कई राजनयिक, राजदूत आदि विदेशों में भेजे गए तो उन्हें परिचय–पत्र अंग्रेजी में दिये गये। अनेक राष्ट्रों (विशेषकर रूस आदि) ने अंग्रेजी के परिचय-पत्र अमान्य कर दिए और राजदूतों को तब तक स्वीकार नहीं किया, जब तक कि हिंदी में परिचय-पत्र नहीं भेजे गये। ऐसी ही एक घटना डॉ. रघुवीर के साथ घटी, जब वे एक बार फ्रांस गए और एक फ्रांसीसी

परिवार में अतिथि के रूप में रुके। इसी प्रवास के दौरान भारत से डॉ. रघुवीर के नाम अंग्रेजी भाषा में लिखा पत्र पहुँचा। अंग्रेजी भाषा में लिखे पत्र को देखकर उस फ्रांसीसी मित्र ने क्षोभपूर्वक कहा कि—क्या आपके देश की कोई अपनी भाषा नहीं है, जो विदेशी भाषा में पत्राचार करते हैं। निजी भाषाविहीन देशवासी को अपना अतिथि मानने में मुझे कष्ट होता है।

आज हिंदी भारत की पहचान है और अंतरराष्ट्रीय मंचों पर हिंदी के माध्यम से ही हम विश्व को अपनी निजी पहचान का बोध करा सकते हैं। हिंदी देश की राजभाषा एवं सम्पर्क भाषा है। प्रांतीय भाषाएँ अपने-अपने राज्यों की राजभाषाएँ हैं, किंतु राष्ट्रीय राजभाषा एक ही होनी चाहिए, जबकि भारत में हिंदी के अलावा अंग्रेजी द्वितीय राष्ट्रीय राजभाषा है। राष्ट्रभाषा से तात्पर्य अन्य प्रान्तीय (भारतीय) भाषाओं पर राज करना नहीं है। हिंदी अंग्रेजी की तरह अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने की भी क्षमता रखती है क्योंकि हिंदी आज विदेशों में बोली, पढाई और समझी जाती है। अतः भारत की जनभाषा हिंदी को संवैधानिक रूप से भी राष्ट्रभाषा घोषित किया जाना चाहिए, क्योंकि अघोषित रूप से हिंदी ही राष्ट्रभाषा है।

८. हिंदी का राजभाषा का संदर्भ

राजभाषा का तात्पर्य शासन की भाषा से है। जब किसी भाषा को राजकाज (सरकारी कार्य व्यवहार) के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो उसे राजभाषा कहा जाता है। राजभाषा का प्रयोग मुख्य रूप से —शासन, विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका, इन चार क्षेत्रों में किया जाता है। पहले यह काम अंग्रेजी में होता था। बाद में हिंदी को राजभाषा के रूप में 'संघ की भाषा' तथा 'राजभाषा' नाम दिया गया। राजभाषा अधिनियम १९६३ में आया। इस पर दक्षिण के कुछ लोगों ने हिंदी का विरोध किया। पुनः १९६७ ई. में राजभाषा संशोधन विधेयक लाया गया, जिसमें यह व्यवस्था की गई कि 'अंग्रेजी' सरकारी कामकाज में सहभाषा के रूप में तब तक बनी रहेगी, जब तक हिन्दीतर भाषी राज्य 'हिंदी' को एकमात्र राजभाषा बनाने के लिए सहमत न हो जाएँ।

किसी भी लोकतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि शासन की भाषा और जनता की भाषा एक हो। जब तक दोनों में सीधा और हार्दिक संबंध

स्थापित नहीं होगा, तब तक भारत जैसे विकसित देशों में जनसाधारण का सहयोग नहीं मिल पाएगा। गुलाम भारत में अंग्रेजी द्वारा भारतीय भाषाओं को दबाया जाना स्वाभाविक था, किंतु स्वाधीन भारत में अंग्रेजी का वर्चस्व किसी भी तरह से उचित नहीं है। हिंदी को राजभाषा के रूप में अपनाने का सीधा अर्थ है कि अंग्रेजी को राजकाज के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाए। जब तक अंग्रेजी सह राजभाषा के रूप में रहेगी, तब तक हिंदी की स्थिति सुधर नही सकती। दुःख का विषय है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी हिंदी वास्तविक अर्थों में राजभाषा नहीं बन सकी है। अंग्रेजी जब तक ज्ञान-विज्ञान के विषयों का माध्यम रहेगी, तब तक आम जनता तक ज्ञान-विज्ञान का प्रचार नहीं हो सकेगा। साथ ही अंग्रेजी दूसरी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। वह हमारी भाषाओं के साथ-साथ हमारी संस्कृति को भी ग्रस रही है। हिंदी आज हर तरह से सक्षम है, अतः उसे एकमात्र राजभाषा घोषित किए जाने की आवश्यकता है।

९. हिंदी भाषा का पारिभाषिक संदर्भ

भाषा की लघुतम स्वतंत्र इकाई 'शब्द' है। प्रयोग की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के होते हैं– १. सामान्य शब्द २. अर्ध "पारिभाषिक शब्द ३. पारिभाषिक शब्द। डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार—'पारिभाषिक शब्द ऐसे शब्दों को कहते हैं, जो रसायन, भौतिकी, दर्शन, राजनीति आदि विभिन्न विज्ञानों या शास्त्रों के शब्द होते हैं तथा जो अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट एवं सुनिश्चित रूप से परिभाषित होते हैं। अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से निश्चित रूप से परिभाषित होने के कारण ही ये शब्द पारिभाषिक शब्द कहे जाते हैं"[१४]

डॉ. रघुवीर के अनुसार–पारिभाषिक शब्द का अर्थ है, जिसकी सीमाएँ बाँध दी गयी हों। जिनकी सीमा नहीं बाँधी जाती है वे साधारण शब्द होते हैं। डॉ. रघुवीर ने हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली निर्माण की प्रक्रिया, उसकी विशेषताओं तथा आधारभूत सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार–

१. पारिभाषिक शब्दावली तो कभी सरल हो ही नहीं सकती, ऐसा किसी भी भाषा में नहीं होता।
२. भारतीय पारिभाषिक शब्दावली का पहला सिद्धांत यह है कि अंग्रेजी के शब्द

का अनुवाद भारतीय भाषा अथवा हिंदी में सार्थक होना चाहिए।

३. अंग्रेजी की प्रत्येक अर्थछाया के लिए हिंदी भाषा में भी नया शब्द होना चाहिए।
४. अंग्रेजी के एक शब्द का अनुवाद हिंदी में एक ही शब्द से होना चाहिए।
५. धातु, उपसर्ग व प्रत्यय के मिलने से शब्द बनते हैं। जरूरी नहीं कि प्रत्येक शब्द में ये तीनो हों, दो भी हो सकते हैं और अधिक भी।
६. हिंदी के प्रत्येक शब्द का विश्लेषण किया जा सकता है, विश्लेषणता उसकी विशेषता है।
७. हिंदी के शब्दों में जो पारदर्शिता है, वह संसार की किसी दूसरी भाषा के शब्दों में नहीं है। हमारी भाषा के शब्दों का यह गुण है कि वे वस्तु का एक चित्र हमारे मस्तिष्क में बना देते हैं।

डॉ. रघुवीर के अनुसार भाषाएँ दो प्रकार की होती हैं—
१. नैसर्गिक भाषा और २. कृत्रिम भाषा। नैसर्गिक भाषा वह है जो अपने आप निकले और स्वाभाविक रूप से जनता की भाषा हो। कृत्रिम भाषा, विज्ञान की भाषा होती है जो भाषा चिंतन द्वारा बनायी जाती है। उसमें ग्रामीणता का अभाव निश्चित ही रहेगा, सोचने का काम जब आ जाता है, तब स्वाभाविकता चली जाती है।

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दावली कैसी हो, इसको लेकर विभिन्न विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। इनमें मुख्यतः चार प्रकार की विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं—
१. पुनरुद्धारवादी सम्प्रदाय २. आदानवादी सम्प्रदाय ३. प्रयोगवादी या हिंदुस्तानी सम्प्रदाय ४. मध्यमार्गी सम्प्रदाय।

(१) पुनरुद्धारवादी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि मुख्य रूप से डॉ. रघुवीर हैं, जो संस्कृत को आधार बनाकर पारिभाषिक शब्दावली निर्माण के पक्षधर रहे हैं। वे नहीं चाहते थे कि भारत की पारिभाषिक शब्दावली में विदेशी भाषा का एक भी शब्द स्थान पाए। उनका कहना था कि जिन संकल्पनाओं या वस्तुओं के लिए हमारी भाषिक परंपरा में शब्दों का अभाव है, उनके लिए संस्कृत की ५२० धातुओं, २० उपसर्गों तथा ८० प्रत्ययों की संख्या से लाखों-करोड़ों ऐसे शब्द बनाए जा सकते हैं, जो भारतीय

विद्यार्थी की समझ आ सकते हैं। उन्होंने अपने प्रसिद्ध कोश 'कम्प्रिहेंसिव इंग्लिश--हिंदी डिक्शनरी में उक्त आधार पर ही अंग्रेजी शब्दों के हिंदी में प्रतिशब्द दिए हैं।

(२) आदानवादी सम्प्रदाय

इसे शब्द ग्रहणवादी या स्वीकारवादी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इनके अनुसार अंग्रेजी या अंतरराष्ट्रीय शब्दों के लिए हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में शब्द बनाने की आवश्यकता नहीं है, वरन् इन शब्दों को ज्यों का त्यों हिंदी ध्वनि-व्यवस्था के अनुरूप अनुकूलित करके अपना लिया जाना चाहिए। ऐसा करने से कई झंझटों से बच सकेंगे।

(३) प्रयोगवादी या हिंदुस्तानी सम्प्रदाय

इस संप्रदाय की मान्यता है कि हमारी वर्तमान संस्कृति एक मिश्रित संस्कृति है। अतः हमारी शब्दावली भी उसी के अनुरूप होनी चाहिए। इसलिए उसमें संस्कृत, अरबी–फारसी, तुर्की, अंग्रेजी तथा तद्‌भव व देशज शब्दावली को अपनाया जाना चाहिए। यह तो ठीक है कि मिश्रित संस्कृति के अनुरूप मिश्रित शब्दावली होनी चाहिए, परंतु इन्होंने जिस तरह की शब्दावली अपनायी, वह भोंडी व हास्यास्पद सिद्ध हुई।

(४) मध्यमार्गी सम्प्रदाय

इसे समन्वयवादी सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इस विचारधारा को मानने वाले तीनों सम्प्रदायों की विचारधारा के समन्वय पर जोर देते हैं, अर्थात् (क) पहले अपने वर्तमान शब्द भंडार का पूरा उपयोग कर लिया जाय, (ख) उन विदेशी, देशज व तद्‌भव शब्दों को यथावत् अपना लिया जाय जो खूब चल पड़े हों या लोक प्रचलित हों, इसमें अंग्रेजी भाषा तथा अपनी भाषा के शब्द भी हों, (ग) बाहरी शब्दों को अपनी ध्वनि–व्यवस्था के अनुरूप ढाल दिया जाय, जैसे–'एकेडमी' से 'अकादमी' आदि। आवश्यक होने पर अपनी भाषा के नए शब्द बनाए जाएँ।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्धारण के संदर्भ में उपर्युक्त चार विचारधाराओं में से किसे अपनाया जाय, यह एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि वर्तमान में एक अनुमान के अनुसार ज्ञान की लगभग ६०० शाखाएँ बन चुकी हैं जिसमें लगभग ७ लाख मौलिक शब्द तथा १४ लाख व्युत्पादित शब्द प्रयुक्त होते हैं। इन सबके लिए मौलिक

शब्दों का निर्माण कठिन काम है। कई लोगों का आरोप है कि निर्मित शब्द लोक प्रचलित नहीं हो पाते। परंतु यह व्यावहारिक सत्य है कि प्रयोग एवं अभ्यास से शब्द सुगम प्रतीत होने लगते हैं, जैसे—अंग्रेजी में ग्रीक व लैटिन धातुओं से पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ है और आज वे प्रचलन में हैं। इसी प्रकार संस्कृत भाषा में धातुओं में उपसर्ग व प्रत्यय के मिश्रण से नए-नए अर्थ तथा निश्चित रूप वाले शब्दों के निर्माण की क्षमता है। अतः उसी को पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का आधार बनाया जाना चाहिए, साथ ही इस बात का ध्यान भी रखा जाना चाहिए कि वे मूल अर्थ के प्रतिपादन में सक्षम एवं सार्थक हों, अन्यथा शब्द हास्यास्पद भी बन सकते हैं। इसके अलावा संस्कृतनिष्ठ तत्सम अथवा तद्भव रूप प्रांतीय शब्दों को भी ग्रहण किया जा सकता है। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि पारिभाषिक शब्दों का अखिल भारतीय स्वरूप एक ही हो।

१०. हिंदी भाषा का प्रयोजनमूलक संदर्भ

आज हिंदी केवल कविता, कहानी, उपन्यासादि साहित्यिक विधाओं की ही भाषा नहीं है, वरन् वह व्यावसायिक क्षेत्रों, प्रशासनिक कार्यों, सरकारी कामकाज, शिक्षा तथा ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का भी सशक्त माध्यम बन चुकी है। आधुनिक युग में जितनी प्रगति हिंदी भाषा ने की है, उतनी किसी अन्य भारतीय भाषा ने नहीं।[१५]

प्रयोजनपरक संदर्भ में भाषा संप्रेषण का प्रमुख साधन है। भाषा के इस संप्रेषण के सहारे ही व्यक्ति अपने भाषीय समुदाय के सदस्यों के साथ संबंध स्थापित करता है। उनके साथ विचार-विनिमय करता है तथा एक-दूसरे का सहयोग प्राप्त करता है। भाषा का प्रयोजनपरक संदर्भ भी दो तरह का होता है—औपचारिक एवं अनौपचारिक। निजी स्तर पर व्यक्तिगत बातचीत जहाँ अनौपचारिक होती है, वहीं विभागीय, कार्यालयी या नियम–कानूनादि विषयों में अनौपचारिकता होती है।

आजादी के बाद हिंदी का विकास कई रूपों में हुआ है, जिनमें प्रशासनिक हिंदी, व्यावसायिक हिंदी, तकनीकी हिंदी तथा सामाजिक हिंदी प्रमुख हैं। प्रयोजनमूलक हिंदी को कामकाजी हिंदी भी कहा जाता है। प्रयोजनमूलक हिंदी ही समाज में पारस्परिक संबंधों के निर्वाह एवं अन्य विविध क्षेत्रों में प्रयुक्त होती है। व्यावहारिक

अथवा प्रयोजनमूलक दृष्टि से जब हम हिंदी की शक्ति एवं सीमा की चर्चा करते हैं और अंग्रेजी से उसकी तुलना करने लगते हैं तो थोड़ी देर के लिए ऐसा लगता है कि सब कुछ अंग्रेजी के 'फ्रेम' में ढलकर ही हिंदी में उतर रहा है तथा 'साँचा पद्धति' के आधार पर हिंदी का व्यावहारिक रूप तैयार हो रहा है, परंतु इसके ऐतिहासिक कारणों पर जायें तो यह हमारी विवशता भी लगती है क्योंकि अंग्रेजी हमारे भाषिक प्रयोगों एवं कामकाजी रूपों के लिए एक दिशा निर्देशक रही है। यदि हमें हिंदी माध्यम अपनाने लिए कुछ क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा के व्यावहारिक रूपों की सहायता लेनी पड़ रही है तो इसमें कोई बुराई नहीं है। दूसरों से सीखकर भी हम भाषा के क्षेत्र में हर दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सकते हैं।

एक सीमा तक हिंदी भाषा इतनी समर्थ एवं आत्मनिर्भर बन चुकी है कि वह प्रयोगमूलक सभी क्षेत्रों एवं दिशाओं में व्यवहृत हो रही है। ज्ञान-विज्ञान की सभी बातों का वह माध्यम बनती जा रही है। साहित्य, विज्ञान, मानविकी, समाज, विज्ञान, उद्योग, व्यवसाय, तकनीकी ज्ञान, अभियांत्रिकी, प्रौद्योगिकी, बैंकिंग, वाणिज्य, विधि-विधान, वीमा कंपनियों, पत्रकारिता, अनुवाद, पत्राचार तथा संचार माध्यम आदि कितने ही ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ हिंदी का बहुलता से प्रयोग हो रहा है तथा कई रोजगारपरक कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। इसके अलावा जिन-जिन क्षेत्रों में अध्यन--अध्यापन तथा पठन-पाठन अंग्रेजी भाषा के माध्यम से हो रहा है, उन-उन सभी विषयों में हिंदी भाषा को माध्यम बनाया जा सकता है। इस तरह सरकारी एवं गैरसरकारी क्षेत्रों में राजकाज एवं प्रशासनिक कामकाज के लिए हिंदी को हर तरह से सक्षम एवं उपयोगी बनाने की दिशा में निरंतर प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है। हालाँकि इस दिशा में सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर हिन्दी को उन्नत एवं सक्षम बनाने लिए कई प्रयास हुए हैं। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, राजभाषा आयोग, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली अयोग ने केन्द्रीय स्तर पर तथा कई हिंदी भाषी राज्य सरकारों ने राज्य स्तर पर तकनीकी साहित्य उपलब्ध कराया है। विधि मंत्रालय ने 'न्याय-निर्णय पत्रिका' तथा उच्चतम न्यायालय ने 'निर्णय पत्रिका' का प्रकाशन प्रारंभ किया और उनके नियमों, नियम पुस्तकों तथा अधिनियमों के हिंदी रूप तैयार किए। इस प्रकार के कार्यों से प्रशासन तथा विधि संबंधी साहित्य पर्याप्त

मात्रा में हिंदी में सृजित हो सका।[१६]

साहित्य का संदर्भ हो या प्रयोजनमूलक भाषा का संदर्भ, हिंदी भाषा की वर्तमान संदर्भों में एक अहम् भूमिका है। हिंदीतर भाषियों ने भी न केवल हिंदी भाषा के साहित्य को काफी समृद्ध किया है, वरन् हिंदी की प्रयोजनपरक भूमिकाओं में भी काफी योगदान दिया है। भाषा प्रत्येक देश के संस्कार व उसकी संस्कृति की पहचान होती है। वहाँ के दर्शन, चिंतन, शोध, बहुज्ञता, ज्ञान-विज्ञान, पारस्परिक संपर्क एवं अनेकता में एकता स्थापित करने की कड़ी के रूप में भाषा को देखा जाता है। 'पब्लिक स्कूलों के 'अंग्रेजी कल्चर' ने हमारी हिंदी तथा हिंदी संस्कृति को काफी नुकसान पहुँचाया है, परंतु हिंदी एकमात्र ऐसी भाषा है जो हमें समस्त विश्व के विकास कार्यों से जोड़ सकती है। ऐसे में हिंदी को सर्वमान्य बनाने के लिए आवश्यक है कि आने वाली युवा पीढ़ी को हिंदी के प्रशासनमूलक, व्यवहारमूलक तथा व्यवसायमूलक स्वरूप से अवगत कराया जाए तथा उन्हें यथोचित भाषा-शिक्षण एवं प्रशिक्षण दिया जाए, तभी हिंदी को विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

संदर्भ

१. भारत का संविधान, पृ. ९८
२. वंही, पृ. ९६
३. शैक्षिक व्याकरण और व्यावहारिक हिन्दी—डॉ. कृष्णकुमार गोस्वामी, पृ.४
४. राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग : एक ऐतिहासिक दृष्टि—डॉ. किरणपाल सिंह तेवतिया; (हिन्दी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति), पृ. १०९
५. दक्खिनी हिंदी—डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. ३४
६. हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास-डॉ. शिवराज वर्मा, पृ. १२४
७. बारहवीं सदी से राजकाज में हिंदी-डॉ. बाबूराम शर्मा, पृ. ७४-७५
८. हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास–डॉ. शिवराज वर्मा, पृ. १२३
९. हिन्दीः उद्भव, विकास और स्वरूप-डॉ. हरदेव बाहरी, १९७० पृ. २२३
१०. भारतीय आर्यभाषा और हिंदी—डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृ. १९४-१९५

११. हिन्दी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. २४३
१२. कचहरी की भाषा–चन्द्रबली पाण्डे, पृ. १५
१३. हिन्दी का प्रचार-प्रो. रामलाल परीख (हिंदी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति), पृ.१९
१४. पारिभाषिक शब्दावली : कुछ समस्याएँ–सं. भोलानाथ तिवारी तथा महेन्द्र चतुर्वेदी, पृ. १६
१५. हिन्दी परिचय–पावस, १८८० शक, पृ. २१
१६. राजभाषा हिन्दीः वर्तमान तथा भविष्य–डॉ. मलिक मोहम्मद, विश्व हिंदी सम्मेलन, नागपुर

रीडर,हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय परिसर, अल्मोड़ा-२६३६०(उत्तरांचल)

सार्थ गुजराती जोडनी कोशः एक अध्ययन

–ठाकोर भरतजी जीवनजी

'सार्थ गुजराती जोडनी कोश' का निर्माण तब हुआ जब अपने देश की आज़ादी के लिए संघर्ष चल रहा था और इस लक्ष्य में सफलता प्राप्त करने के लिए पूज्यवर गाँधीजी ने देश के विभिन्न भाषा-भाषियों को एक धरातल पर खड़ा करने के लिए यह अनिवार्य समझा कि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की परस्पर जानकारी हो। उन्होंने गुजराती भाषाविदों, सहयोगियों को प्रेरित किया, प्रोत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप 'सार्थ गुजराती जोडनी कोश' का आकलन हुआ। इससे पूर्व भी गुजराती भाषा के कई कोशों का निर्माण हुआ था किन्तु उनमें समान वर्तनी के नियमों का चलन नहीं था। या यों कहें कि गुजराती भाषा में वर्तनी की एकरूपता नहीं थी इसीलिए भाषाविदों और भाषा-प्रेमियों की एक माँग थी कि गुजराती भाषा में एक समान वर्तनी के नियम से बना एक मानक कोश हो।

इसलिए जेल से बाहर आकर उन्होंने तीन व्यक्तियों को यह काम सौंप दिया और बताया कि शुद्ध और रूढ़ दोनों की एक समन्वयात्मक वर्तनी के नियमों का आकलन कर के एक लोकसुलभ वर्तनी-कोश तैयार किया जाए। इस कार्य में गुजरात विद्यापीठ के सेवक, विद्यार्थी और गुजराती भाषाप्रेमी और साहित्यकार व्यक्तियों का सहयोग मिला।

सन् १९२९ में गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद का 'सार्थ जोडनी कोश' प्रकाशित हुआ। यह इस कोश का प्रथम संस्करण था। यह घटना गुजराती भाषा में एक इतिहास प्रवर्तक प्रयत्न था। इस कोश के निर्माण में गाँधीजी के निर्देशानुसार एक समिति का गठन हुआ जिसमें श्री रामनारायण पाठक, श्री महादेवभाई देसाई और श्री नरहरिभाई बरडोली को सम्मिलित किया गया। फिर इस गुजरात विद्यापीठ कोश समिति में इस कोश के लिए कुछ नियम बनाये गये। इस वर्तनी के नियम इस कोश में दिये गये हैं। इस कोश को तैयार करने में गुजराती साहित्यप्रेमियों का भी सहयोग मिला है। इस प्रकार इस कोश के आकलन, प्रकाशन सम्बन्धी सारे कार्य गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद में सम्पन्न हुए।

सार्थ गुजराती जोडनी कोश के पूर्ववर्ती कोश

गुजराती कोश साहित्य में सीमाचिह्न और ऐतिहासिक माने जाने वाले कोशों में डूमंड की 'ग्लोसरी'- सन् १८०८ एक अंग्रेज विद्वान् के द्वारा गुजरात को मिली। यह एक ऐतिहासिक घटना थी। उसके बाद कवि हिराचंद कानजी का 'कोशावली'-शब्दकोश-१८६५ में प्रकाशित हुआ। इस के अलावा 'शब्दकामूल'–१८६८ सैयद अबदुल्ला और खीमजी प्रेमजी रचित कोश तथा तदुपरांत 'शब्दमूलदर्शक कोश'–१८७९, 'अपभ्रष्ट शब्दप्रकाश' १८८०, बाजीराव तात्यारावजी कृत 'संस्कृत तथा गुजराती कोश' १८७१, 'पेहेलवी-गुजराती और अंग्रेजी शब्दकोश'१८७७ प्रकाशित हुए। इसके बाद गुजराती कोश साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा सीमाचिह्न 'नर्मकोश'–१८६३ है। परेल जेसंग त्रिकमदास संकलित 'गुजराती शब्दार्थ संग्रह' १८९५, गोविंदभाइ हाथीभाई कृत 'प्रांतिक शब्दसंग्रह' १९०० हैं। नर्मकोश के बाद गुजराती कोश साहित्य में सीमाचिह्न माने जाने वाले कोशों में लल्लुभाई गोकणहास् पटेल कृत 'गुजराती शब्दकोश' गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी द्वारा तैयार किया हुआ गुजराती शब्दकोश है। गुजराती भाषा का बृहद शब्दकोश 'भगवद्गो मंडल'- भाग १ से ९ तक प्रकाशित हुआ है। इसका प्रथम संस्करण–१९४४ में प्रकाशित हुआ।इसके अतिरिक्त कई अन्य छोटे-बड़े शब्दकोश सामने आये। 'सार्थ गुजराती जोड़नी कोश' सन् १९२९ में गुजरात विद्यापीठ से प्रकाशित हुआ। यह इससे पहले के सभी कोशों से अपनी अलग ही विशेषता लिये है।

अन्य सब कोशों में इसे ही १९४० में सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हुई आज इस कोश की वर्तनी के नियमों के अनुसार ही गुजराती भाषा का व्यवहार एवं प्रशासनिक कार्य होता है।

इस कोश की प्रथम आवृत्ति सन् १९२९ में प्रकाशित हुई। इस प्रथम आवृत्ति में ४३७४३ शब्द थे। इसकी दूसरी आवृत्ति सन्१९३१ में प्रकाशित हुई।इस आवृत्ति में ४६६६१ शब्द थे। तीसरी आवृत्ति सन्१९३७ में हुई। तीसरी आवृत्ति में ५६८३० शब्द हैं। इस में तत्सम् शब्दों का भाग भी जोड़ा गया।इस प्रकार इस कोश में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रतिशत इस प्रकार है:

संस्कृत	२०२६५ शब्द, ३५ प्रतिशत
फारसी	१७५६, ३ प्रतिशत
अरबी	८३४,१.५ प्रतिशत
अंग्रेजी	३६० शब्द

इसमें हिंदी के १८३, मराठी के ४४, तुर्की के २७, पोर्तुगीज के २९ शब्द हैं। तीसरी आवृत्ति के बाद तुरंत स्वराज्य आदि के संघर्ष ने ज़ोर पकड़ा और १९४२ में राजनैतिक उथल पथल के कारण इस संस्करण को प्रकाशित करने में अनेक कठिनाइयाँ आईं पर तब भी चौथी आवृत्ति सन् १९४९ में प्रकाशित हुई। इस संस्करण में इस कोश की शब्दसंख्या ७५ हजार तक पहुँच गयी। इस की पाँचवी आवृत्ति सन् १९६७ में प्रकाशित हुई जिसमें ६८४६७ शब्द हैं।

इस कोश की प्रथम आवृत्ति केवल शुद्ध वर्तनी बतानेवाली शब्दावली ही थी। दूसरी आवृत्ति में शब्दों के मुख्य अर्थ संक्षेप में दिए गये। इस प्रकार कोश की प्रत्येक आवृत्ति किसी न किसी सुधार के साथ प्रकाशित हुई।

शब्दसंग्रह

'सार्थ गुजराती जोडनी कोश' में विभिन्न भाषाओं के शब्दों को लिया गया है। इसमें गुजराती में प्रचलित संस्कृत, तत्सम्-तद्भव, देशी, विदेशी, अरबी-फारसी, उर्दू, तुर्की, जर्मन,पोर्तुगीज, हिंदी, मराठी, पंजाबी, तमिल, कन्नड, बंगला आदि भाषाओं के शब्दों को स्थान दिया गया है।

इस कोश में विभिन्न क्षेत्रों के शब्द दिये गये हैं। इनमें साहित्य, धर्म, विज्ञान, भौतिकी, न्याय, पशुपक्षी, रीतिरिवाज, गणित, रसायन, रमत (खेल), वनस्पति, व्रत, उत्सव-पंथ, वाद आदि विषय के शब्दों को स्थान दिया गया है। इस कोश में साहित्य विषयक छंद-अंलकार, मुहावरे, लोकोक्तियों, कहावतों को भी स्थान दिया गया है।विभिन्न भाषाओं के कुछ शब्द इस प्रकार हैं:

हिंदी	**पोर्तुगीज**	**अरबी**	**मराठी**
ठनठनगोपाल	बटाटा	जलेबी	मुगुट
जीजा	पीप	जीन	मुतरडी

मतवाला	प्रोवर	जवाहिर		पेंढार
मतीरू	पिस्तोल	जवाबी		मदत
मदत		जलसा		परवजे
मुखिया		रब		पुढे
		मतलब		पीशवी
		मद		मुफत
		मोमिन		मतदार
		मदेसा		पुरवत
		मुलाकात		पुल

फारसी	**अंग्रेजी**	**जर्मनी**	**देशीय**	**तुर्की**
बजाज	बजेट	किंडरगार्टन	पीलुं	बचकी
पीरोज	जिंजर		पीडार	चूगा
पीर	मेडम		पेक	मुगल
जीरू	नायड्रोजन			
किगं/पेकिंग	टोवुं			

संस्कृत	**पंजाबी**	**कन्नड**	**तेलुगु**	**मलयालम**
पुस्कर	अक्ष	अम्मा	रोडू	मतीरू
अक्षत			मूठ	मदत
मंत्रकार				छोसो
पिंगल				ढोंसो
हिमालय				
मदिरा				
पिंपल				
परिमल				

कोश का महत्व

गुजराती कोश साहित्य में 'सार्थ जोडनी कोश' का विशेष महत्त्व है। इस कोश का गुजराती भाषा में एक महत्वपूर्ण योगदान है। वह इसलिए कि इससे

गुजराती भाषा में वर्तनी में एकरूपता आयी और भाषा समृद्ध हुई, क्योंकि कोश को वर्तनी के नियमों के अनुसार तैयार किया गया। इस कोश की प्रथम आवृत्ति की प्रस्तावना में यह बताया गया है कि भाषा में वर्तनी निश्चित् करने के साथ-साथ इसमें प्रचलित शब्दकोशों में समकालीन और प्राचीन काल से व्यवहृत शब्दों का समावेश किया गया है। इस कोश में कई नये शब्दों को भी चुनकर जोड़ा गया है। इस प्रकार प्रथम आवृत्ति में सिर्फ वर्तनी निश्चित करके कोश तैयार किया गया था। इसमें वर्त्तनी के ३३ नियमों का उल्लेख है। जिनका पालन करने से इसका समग्र गुजरात तथा गुजराती भाषाप्रेमियों में अनूठा महत्व है। इस कोश का सर्वत्र प्रयोग होता है। खास बात यह है कि इस कोश की वर्तनी के कारण समग्र गुजराती भाषा में इसका व्यवहार चलता है। इस कोश की वर्तनी को सरकार ने भी मान्यता दी है। आज समग्र गुजरात राज्य में गुरजाती भाषा का प्रयोग इसी कोश की वर्तनी से होता है।

इस कोश में विविध भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याकरण, शब्दप्रयोग, उच्चारण, शब्दभंडार, वर्तनी (जोड़नी), पर भी प्रकाश डाला गया है।इसमें गुजराती-हिंदी-मराठी का तुलनात्मक रूप-बोध किया गया है। जिसके लिए हिंदी का 'शब्दसागर' और मराठी के श्री दाते के 'महाराष्ट्र शब्द कोश' को आधार बनाया गया है। उर्दू और हिंदुस्तानी, फारसी और अरबी भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी के कोशों की सहायता ली गयी है।

अन्त में हम यही कहेंगे कि इस कोश का गुजराती कोश साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। इस कोश ने समग्र गुजराती भाषा में एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह गुजराती भाषावर्ग के लिए एक अनमोल भेंट हैं। इस कोश का निर्माण बापूजी की प्रेरणा और प्रोत्साहन से हुआ,अतःयह उन्हें ही समर्पित किया गया । हम इस कोश की उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए आशा करते हैं कि यह गुजराती भाषा में एक बृहद् शब्दकोश के रूप में भाषाप्रेमियों और साहित्यकारों के ज्ञानवर्द्धन में सहायक सिद्ध होता रहेगा।

गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद (गुजरात)

विश्वभारती-परिक्रमा

विश्वभारती में भारतीय इतिहास कांग्रेस

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पावन धरती शांतिनिकेतन में भारतीय इतिहास कांग्रेस का ६६वाँ अधिवेशन स्कूल ऑफ हिस्टोरिकल स्टडीज़ (इतिहास विभाग तथा प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग) के सौजन्य से विश्वभारती में २८-३० जनवरी, २००६ में आयोजित हुआ। भारतीय इतिहास कांग्रेस की स्थापना १९३५ में हुई थी। इसका प्रथम अधिवेशन प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी पूना (महाराष्ट्र) में १९३५ में हुआ था और प्रोफेसर शफ़ाअत अहमद खाँ जो एक प्रसिद्ध विद्वान और इतिहासकार थे, उसके प्रथम अध्यक्ष थे। अपने सत्तर वर्ष के इतिहास में इतिहास कांग्रेस भारतीय इतिहासकारों की सर्वोच्च संस्था रही है। इतिहास कांग्रेस का उद्देश्य एक स्वस्थ और पूर्वाग्रह से मुक्त इतिहास लेखन की दिशा का निर्धारण करना रहा है।

ऐसा व्यापक और बड़ा सम्मेलन विश्वभारती में पहली बार हुआ जिसमें देश-विदेश के लगभग पन्द्रह सौ इतिहासकारों/विद्वानों ने भाग लिया। अधिवेशन का उद्‌घाटन तत्कालीन रक्षा मंत्री श्री प्रणव मुखर्जी ने उत्तरायण प्रांगण में किया। लोकसभा अध्यक्ष श्री सोमनाथ चटर्जी तथा पश्चिम बंगाल के उच्च शिक्षा मंत्री प्रोफेसर सत्यसाधन चक्रवर्ती भी उद्‌घाटन समारोह में सम्मिलित हुए। सर्वप्रथम विश्वभारती के तत्कालीन उपाचार्य प्रोफेसर सुजित कुमार वसु ने देश-विदेश से आए इतिहासकारों का स्वागत किया।प्रोफेसर सव्यसाची भट्टाचार्य ने जो विश्वभारती के भूतपूर्व उपाचार्य और इतिहास कांग्रेस के अध्यक्ष रहे हैं, दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर डी. एन. झा को इतिहास कांग्रेस के ६६ वें अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत करने की घोषणा की।लोकसभा अध्यक्ष श्री सोमनाथ चटर्जी ने अपने भाषण में कहा कि "एतिहासिक मुद्दों को सुलझाने में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग नही करना चाहिए।" उद्‌घाटन समारोह के अन्त में प्रोफेसर गणपति सुब्बैया ने जो इतिहास कांग्रेस के शांतिनिकेतन अधिवेशन के स्थानीय सचिव थे,धन्यवाद ज्ञापन किया।

तीन दिनों तक चले भारतीय इतिहास कांग्रेस के शांतिनिकेतन अधिवेशन

प्रो. गणपति सुब्बैया, प्रो. सव्यसाची भट्टाचार्य, प्रो. डी.एन. झा, श्री प्रणव मुखर्जी, प्रो. सुजित कुमार बसु तथा श्री सोमनाथ चटर्जी

में लगभग अब तक के रिकार्ड में सबसे अधिक अर्थात १५०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया और लगभग ८५० शोधपत्र पढ़े गये। एक वर्ष पूर्व २००४ ई. में इतिहास कांग्रेस के रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय द्वारा बरेली में आयोजित अधिवेशन में ११०० लोगों ने भाग लिया था तथा ५०० शोध-पत्र पढ़े गये थे । प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय इतिहास के अतिरिक्त अन्य देश एवं पुरातत्व शास्त्र के इतिहास की पृथक-पृथक पाँच गोष्ठियाँ तीन दिनों तक चलीं साथ ही कई पैनल गोष्ठियाँ भी हुईं जिनमें "अकबर एण्ड हिज़् वर्ल्ड", 'पार्टिशन ऑफ बंगाल एण्ड स्वदेशी मूवमेन्टः द कल्चरल इम्पेक्ट" तथा "टैगोर्स विज़न इट्स रेलिवेन्स इन द ट्वेन्टी फ़र्स्ट सेन्चुरी" प्रमुख थे। प्रोफेसर इरफ़ान हबीब, प्रोफेसर सव्यसाची भट्टाचार्य तथा प्रोफेसर सोमेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय इन पैनलों के क्रमशः सभापति थे।

इतिहास कांग्रेस प्रत्येक वर्ष कुछ दिवंगत इतिहासकारों की स्मृति में कुछ शोधपत्रों को पुरस्कृत करती है। इस वर्ष युवा इतिहासकारों के सात शोध-पत्रों को

पुरस्कृत किया गया। इसके अतिरिक्त तीन सम्मानजनक पुरस्कार देश के तीन श्रेष्ठ इतिहासकारों क्रमशः प्रोफेसर रोमिला थापर, प्रोफेसर इक़्तादार आलम खाँ एवं प्रफेसर विशालाक्षी मेनन को इतिहास लेखन के क्षेत्र में उनके श्रेष्ठ योगदान के लिए दिया गया।

इस बार के इतिहास कांग्रेस की यह विशेषता थी कि विदेशों से आने वाले प्रतिनिधियों की संख्या अन्य वर्षों की तुलना में अधिक थी। पड़ोसी देश पाकिस्तान से विशेषकर इतिहासकारों का एक दल आया था जिनमें प्रोफेसर मुबारक अली, डॉ. तारिक़ रहमान तथा कुछ अन्य सदस्य शामिल थे। पाकिस्तानी इतिहासकारों को शांतिनिकेतन बहुत सुन्दर, शांत और प्रेरक ज्ञात हुआ। उन्होंने विश्वभारती के साथ भविष्य में विद्या तथा संस्कृति के क्षेत्र में परस्पर सहयोग तथा आदान-प्रदान की इच्छा प्रकट की जिसकी सराहना विश्वभारती के उपाचार्य प्रोफ़ेसर सुजित कुमार बसु ने भी की और पाकिस्तान उच्च शिक्षा आयोग से सम्पर्क कर भविष्य में विश्व-भारती के साथ परस्पर सम्पर्क को बढ़ाने की इच्छा जतायी।

१५०० प्रतिनिधियों के ठहरने और भोजनादि की उत्तम व्यवस्था लगभग चार दिनों के लिए शांतिनिकेतन जैसे छोटे स्थान में करना अपने आप में एक चुनौती थी। इस व्यापक चुनौती को कुशलतापूर्वक निर्वाह करने में न केवल विश्व-विद्यालय बल्कि पूरे शांतिनिकेतन और बोलपुर समाज का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। यही कारण था कि लगभग सभी अतिथियों ने पूरी व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

प्रथम दो दिन संध्या में बोलपुर के गीतांजलि सभागार में सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन श्रीमती नन्दिता बसुसर्वाधिकारी ने किया जिसमें भारत के लगभग सभी प्रान्तों के सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये जिसका प्रसारण दूरदर्शन से तत्क्षण होता रहा। अतिथियों ने ऐसे भव्य सांस्कृतिक कार्यक्रम को बहुत प्रशंसनीय और सराहनीय बताया। गोष्ठी के दूसरे दिन विश्वभारती के संगीत भवन ने एक शानदार सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया।

अंतिम दिन के शोधसत्र के बाद कार्य समिति सत्र हुआ जिसमें यह तय हुआ कि ६७वाँ भारतीय इतिहास कांग्रेस कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, हरियाणा में होगा। प्रोफेसर गणपति सुब्बैया को प्राचीन इतिहास के अगले सत्र के लिए अध्यक्ष मनोनीत

किया गया तथा प्रोफेसर संदीप बसुसर्वाधिकारी को कार्यकारिणी समिति का सदस्य निर्वाचित किया गया।

विश्वभारती के पत्रकारिता एवं जन-संचार विभाग ने तीन दिनों के सत्र के दौरान प्रत्येक दिन अपने समाचार पत्र का एक विशेष बुलेटिन निकाला। प्रत्येक बुलेटिन में न केवल भारतीय इतिहास कांग्रेस बल्कि शांतिनिकेतन की शिक्षा तथा सांस्कृतिक धरोहर पर विशेष प्रकाश डाला गया। यह एक बहुत प्रशंसनीय कार्य था । इससे बाहर से आये इतिहासकारों, विद्वानों तथा प्रतिनिधियों को विश्वभारती के शिक्षा तथा सांस्कृतिक योगदान को समझने में काफी सहायता हुई। विश्वभारती के शिक्षकों तथा शोधछात्रों ने इतिहास कांग्रेस में जो शोधपत्र प्रस्तुत किया उसका एक पृथक अंक स्कूल ऑफ़ हिस्टोरिकल स्टडीज़ ने निकाला और वितरित किया।

भारतीय इतिहास कांग्रेस का शांतिनिकेतन अधिवेशन बहुत सी यादें और स्मृतियाँ छोड़ गया। अतिथि इस संदेश के साथ विदा हुए कि "भारतीय सभ्यता को एक सामासिक संस्कृति के रूप में सर्वप्रथम गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने १९०२ में प्रस्तुत किया।"

-डॉ.सैयद एजाज़ हुसैन

सुभद्रा कुमारी चौहान जन्मशती समारोह

विश्वभारती, शांतिनिकेतन के हिंदी-भवन मे कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान जन्मशती के उपलक्ष्य में 'राष्ट्रीयता और सुभद्राकुमारी चौहान' विषय पर १९ फरावरी से २१ फरवरी,२००६ तक एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन संपन्न हुआ। उक्त संगोष्ठी के उद्‌घाटन सत्र में मंगलाचरण के पश्चात् अभ्यागतों का अभिनंदन करते हुए विभागाध्यक्ष प्रो. मंजुरानी सिंह ने स्वागत-भाषण प्रस्तुत किया और सुभद्राकुमारी चौहान के सही मूल्यांकन की आवश्यकता को रेखांकित किया। विश्वभारती के तत्कालीन कुलपति प्रो. सुजित कुमार बसु ने अपने उद्‌घाटन-भाषण में हाल ही में मनायी गयी 'बंगभंग आंदोलन' की शतवार्षिकी की ओर संकेत करते हुए नवजागरण के दौरान राष्ट्रीय भावना को उजागर करने वाले देशभक्तों की चर्चा की तथा स्वामी दयानंद सरस्वती, विवेकानंद, श्री अरविंद, बंकिमचंद्र, तिलक, गाँधी और रवीन्द्रनाथ के सराहनीय एवं अविस्मरणीय योगदान पर रोशनी डाली। उन्होंने बताया, इन राष्ट्रभक्तों ने भारत के प्राचीन

इतिहास से प्रेरणा लेकर नवजागरण को राष्ट्र-जागरण में तब्दील किया। विश्वभारती के कुलसचिव श्री सुनीलकुमार सरकार ने हिंदी साहित्य के विकास में शांतिनिकेतन के हिंदी-भवन के सक्रिय योगदान का उल्लेख किया।

उक्त त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का बीज भाषण अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रो. कृष्णमुरारि मिश्र ने प्रस्तुत किया। प्रो. मिश्र ने उक्त संगोष्ठी के औचित्य को स्पष्ट करते हुए हिंदी साहित्य में नारी-लेखिकाओं पर व्यापक एवं गहन अध्ययन तथा मानक शोध की आवश्यकता पर बल दिया तथा राष्ट्रीयता के संदर्भ में भी आधुनिक हिंदी-कविता के मूल्यांकन की प्रासंगिकता स्पष्ट की। हिंदी साहित्य में राष्ट्रीयता की काव्यिक अभिव्यक्ति की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने साहित्यिक अभिव्यंजना के सशक्त साधनों-प्रतीक, बिंब और मिथक-की महत्त्वपूर्ण भूमिका का सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं के संदर्भ में उल्लेख किया । प्रो. मिश्र ने अंत में भूमंडलीकरण जैसे नारे के खोखलेपन एवं भारतीय राष्ट्रीयता के मानवतावादी पक्षों–'वसुधैव कुटुंबकम्' एवं ' परोपकाराय स्वर्गीय'–को उजागर किया।

प्रसिद्ध विचारक डॉ.शंभुनाथ ने सुभद्रा कुमारी चौहान के लोकमुखी व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। आज के स्त्री- विमर्श की तुलना में उन्होंने सुभद्रा कुमारी चौहान के स्त्री-विमर्श की व्यापकता की ओर ध्यान दिलाया जिसके अंतर्गत न केवल स्त्री बल्कि अछूत, दलित, पीड़ित सबके मानवीय अधिकार की रक्षा का संकल्प है। प्रो. मंजुरानी सिंह ने सुभद्रा कुमारी चौहान की स्वदेशी चेतना को विशेष रूप से उजागर किया। उन्होंने यह संकेत किया कि सुभद्रा कुमारी चौहान का जीवनमूल्य और उद्देश्य इतना व्यापक था कि अन्य सारी समस्याएँ उसके अंतर्गत समा गयीं।

संगोष्ठी में आंध्र विश्वविद्यालय के प्रो. एस. एम. इकबाल, भागलपुर विश्वविद्यालय के डॉ. भगवान सिंह, दिल्ली के साहित्यकार श्री राजेन्द्र उपाध्याय तथा सिद्धु-कान्हु विश्वविद्यालय के डॉ. अमरेन्द्र सिंह ने भी अपने वक्तव्य प्रस्तुत किये। विभागीय अध्यापकों प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र, प्रो. रामेश्वर मिश्र, डॉ.चक्रधर त्रिपाठी, डॉ. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, डॉ. गरिमा श्रीवास्तव, डॉ. शकुन्तला मिश्र एवं डॉ. सुभाषचन्द्र राय ने भी विचार-विमर्श में भाग लिया।

संगोष्ठी में यह विचार सामने आया कि कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की

राष्ट्रीयता मानवतावादी राष्ट्रीयता थी जिसके विविध आयामों की साहित्यिक अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी रचनाओं में बड़ी ही ऋजुता के साथ की है। व्यक्ति और रचनाकार के रूप में राष्ट्रीयता एवं सृजनशीलता के प्रति उनकी सामंजस्यपूर्ण प्रतिबद्धता सराहनीय थी। भूमंडलीकरण की शिकार बनी आज की युवापीढ़ी दुविधाग्रस्त है। सुभद्रा कुमारी चौहान जैसी साहित्यकार की रचनाओं के अध्ययन-अध्यापन, चिंतन-विवेचन से ही इस पीढ़ी का द्वंद्व खत्म होगा और उसे सही मार्गदर्शन मिलेगा।

संगोष्ठी के तीसरे सत्र में कवि-गोष्ठी और सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं पर आधारित काव्य आवृत्ति संपन्न हुई जिसमें अतिथि तथा स्थानीय कवियों एवं छात्र-छात्राओं ने भाग लिया।

-डॉ. चक्रधर त्रिपाठी

तुलसी जयन्ती समारोह

इस वर्ष अगस्त, 2006 में तुलसी जयंती समारोह का आयोजन विश्वभारती के हिन्दीभवन सभागार में संपन्न हुआ।कार्यक्रम की अध्यक्षता विश्वभारती के उपाचार्य (कुलपति) प्रो. रजतकांत राय ने की। मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे पटना विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष एवं तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान प्रो. सीताराम झा श्याम।विभागाध्यक्ष प्रो.मंजुरानी सिंह ने सबका स्वागत करते हुए हिन्दीभवन के ऐतिहासिक सभागार की विशिष्टताओं का उल्लेख किया। इस अवसर पर उपाचार्य महोदय ने विभिन्न प्रतियोगिताओं (निबंध-लेखन,भाषण,संगीत,चित्रकला आदि) में विजयी रहे छात्र-छात्राओं को पुरस्कृत किया।

उपाचार्य महोदय ने तुलसी के स्वर को भारतीय अन्तःस्थल से उठता स्वर कहा। उन्होंने साहित्य और इतिहास के अंतःसंबंधों को समझने पर जोर देने की अपील करते हुए कहा कि तुलसी साहित्य अपनी विशिष्टताओं के कारण आज भी प्रासंगिक है।विशिष्ट अतिथि प्रो. गणपति सुब्बैया,अध्यक्ष,विद्याभवन,विश्वभारती

कुलपति प्रो. रजतकांत राय पुरस्कार वितरित करते हुए

ने तुलसी को भारतीय संस्कृति के आदर्श संवाहक के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा कि तुलसी का साहित्य हमें जीवन को और गहराई से समझने का अवसर प्रदान करता है और हमारी सामाजिक संरचना को बनाये रखने में सहायता प्रदान करता है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सहारा बनकर सामने आता है। प्रो. सीताराम झा श्याम का कहना था कि वर्तमान चुनौतीपूर्ण वातावरण में तुलसी का साहित्य ही हमें मनुष्य का जीवन जीने का सलीका बता सकता है,हमारे लिए स्थायी मान की शिक्षा उपलब्ध करवा सकता है।यही हमारी सांस्कृतिक ,साहित्यिक,और बौद्धिक चेतना को प्रखरता प्रदान करने में सक्षम सिद्ध होता है। उन्होंने आगे कहा कि आज की सबसे बड़ी समस्या आतंकवाद तथा भ्रष्टाचार से मुक्ति का संदेश हमें तुलसी के साहित्य से प्राप्त हो सकता है।तुलसी के नारी विषयक विचारों की आलोचना को सिरे से खारिज करते हुए प्रो.श्याम ने कहा कि यह तुलसी की गलत व्याख्या है,इस ओर आलोचकों को ध्यान देना चाहिए। विभाग के अध्यापक डॉ चक्रधर त्रिपाठी ने तुलसी की काल विषयक अवधारणा की व्याख्या करते हुए

उसे प्रासंगिक बताया। प्रो.रामेश्वर मिश्र ने रामकथा के प्रारंभ से लेकर उसके आधुनिक स्वरूप तक में आये बदलावों को रेखांकित करते हुए यह भी बताया कि किस प्रकार कुछ आलोचकों ने तुलसी के कालजयी साहित्य को सीमाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की जबकि तुलसी के लोकमंगल में समस्त विश्व समाहित है। प्रो. मिश्र ने विभाग की ओर से सबको धन्यवाद ज्ञापित किया।

-डॉ. जगदीश भगत

राजभाषा हिन्दी दिवस समारोह

दिनांक 14-15 सितम्बर,2006 को हिन्दी दिवस के उपलक्ष्य पर विश्वभारती के राजभाषा विभाग एवं हिन्दी विभाग की ओर से हिन्दीभवन प्रांगण में दो दिवसीय समारोह का आयोजन हुआ।उद्घाटन समारोह के संचालक डॉ सुभाष चन्द्र राय ने सबका स्वागत करते हुए राजभाषा के रूप में हिन्दी के महत्त्व का प्रतिपादन किया।समारोह का उद्घाटन विश्वभारती के कुलसचिव श्री सुनील कुमार सरकार ने किया। इस अवसर पर उन्होंने हिन्दी की विभिन्न परीक्षाओं- प्रबोध,प्रवीण और प्राज्ञ में उत्तीर्ण विश्वभारती के कर्मचारियों को प्रमाणपत्र प्रदान किया तथा उन्हें हिन्दी में कार्य का अभ्यास करने के लिए प्रेरित किया।श्री सरकार ने बताया हिन्दी में काम करना कठिन नहीं है।झिझक छोड़कर कार्याभ्यास से इस दिशा में सफलता मिलेगी। उन्होंने इस अवसर पर आयोजित विभिन्न प्रतियोगिताओं- निबंध प्रतियोगिता,आशु भाषण एवं क्वीज आदि में सफल विद्यार्थियों को भी पारितोषिक वितरण किये।राजभाषा प्रभारी डॉ रामचन्द्र राय ने राजभाषा प्रभाग का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए सूचित किया कि राजभाषा प्रभाग ने भारतीय भाषा संस्थान,मैसूर के पूर्व क्षेत्रीय भाषा केन्द्र,भुवनेश्वर के सहयोग से **पूर्वांचलीय भारतीय भाषाओं के सामान्य प्रशासनिक शब्दावली** का कार्य आरम्भ किया है। इसकी पहली पाँच दिवसीय कार्यशाला दिनांक 19 मार्च से 23 मार्च,2006 तक शान्तिनिकेतन में हुई है।इस कार्य के सम्पादन के लिए पूर्व क्षेत्र के हिन्दी, बंगला,ओड़िआ,मैथिली एवं संथाली भाषाओं के प्रत्येक भाषा से पाँच-पाँच भाषा विशेषज्ञों का चयन किया गया है जो अपनी अपनी भाषाओं से प्रचलित प्रशासनिक शब्दावली का चयन करेंगे। अत में पाँच भाषाओं की सामान्य शब्दावली को एकत्र कर एक सामान्य

शब्दावली बनायी जाएगी।इस शब्दावली का आधार ग्रन्थ वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग,मानव संसाधन विकास मंत्रालय,भारत सरकार से प्रकाशित अंगरेजी-हिन्दी प्रशासनिक पारिभाषिक शब्दावली को रखा गया है।
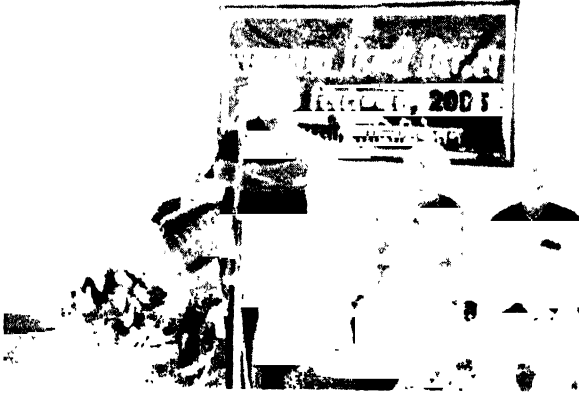
हिन्दी दिवस पर बोलते हुए कुलसचिव श्री सुनील कुमार सरकार

इस अवसर पर हिन्दी विभाग की अध्यक्ष प्रो.मंजुरानी सिंह,प्रो.हरिश्चन्द्र मिश्र एवं प्रो. रामेश्वर मिश्र ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये। 14 सितम्बर,2006 को विभाग के छात्र-छात्राओं ने सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये तथा राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एक नाटक 'वापसी' का सफल मंचन किया। 15 सितम्बर,2006 को आलोचना चक्र में भाग लेते हुए डॉ चक्रधर त्रिपाठी, डॉ मुक्तेश्वरनाथ तिवारी,डॉ शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, डॉ शकुन्तला मिश्र एवं डॉ जगदीश भगत एवं छात्र-छात्राओं ने राजभाषा हिन्दी के विभिन्न पक्षों पर चर्चा की। इस अवसर पर एक काव्यगोष्ठी का भी आयोजना हुआ जिसमें जनसत्ता के प्रभारी श्री शैलेन्द्र एवं दुर्गापुर के श्री दिलीप कुमार शर्मा 'अज्ञात' के अतिरिक्त प्रो. हरिश्चन्द्र मिश्र, प्रो. मंजुरानी सिंह, डॉ. रामचन्द्र राय,डॉ. शैलेन्द्र कुमार त्रिपाठी, डॉ. शकुन्तला मिश्र, डॉ. जगदीश भगत और छात्र-छात्राओं में श्री राजीव कुमार,सुश्री तनया नाग और प्रियंका ने अपनी कविताएँ प्रस्तुत कीं।

-डॉ. शकुन्तला मिश्र

अपनी बात

विश्वभारती पत्रिका में प्रारंभ से ही रवीन्द्रनाथ के साहित्य और उनके विचारों का परिचय देने का प्रयास किया गया है। देश-विदेश, समाज-विश्व विषयक मुद्दों तथा समसामयिक अथवा शाश्वत प्रश्नों पर रवीन्द्रनाथ सोच-विचार करते रहते थे। रवीन्द्रनाथ एक सजग पाठक और गंभीर चिंतक थे। देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं अथवा चिंतकों के महत्वपूर्ण विचारों से वे परिचित रहा करते थे। भारतवर्ष के राजनीतिक या सामाजिक आंदोलनों से वे सर्वदा सक्रिय रूप से तो नहीं जुड़े थे किंतु इनकी गति-प्रकृति पर उनकी तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। उदार मानवता के प्रचार-प्रसार और विश्वशांति के प्रयासों से भी उनका संबंध था। बंगाल की सामयिक पत्रिकाओं में इन विषयों पर उनके निबंध प्रकाशित हुआ करते थे।

पिछले वर्ष (२००५) बंगभंग प्रकरण के सौ वर्ष पूरे हुए। अंग्रेज सरकार के बंगभंग प्रस्ताव का केवल बंगाल में ही नहीं सारे भारतवर्ष में विरोध हुआ। बंगाल में विशेष रूप से बंगभंग आंदोलन के कारण एक अपूर्व राजनीतिक और सामाजिक चेतना उद्बुद्ध हुई। रवीन्द्रनाथ इस आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े। लॉर्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय अधिनियम (१९०२) और बंगभंग अधिनियम (१९०३) के द्वारा एक ओर शिक्षा पर सरकारी पकड़ को मजबूत करना चाहा तो दूसरी ओर हिन्दू और मुसलमान संप्रदाय में विभेद उपस्थित करना चाहा-इस प्रयास में उसे सफलता भी मिली। तत्कालीन राजनीतिक नेताओं की तरह रवीन्द्रनाथ ने भी अंग्रेजों की इस चाल को समझ लिया था। देश के तत्कालीन नेतृवर्ग ने भी अनुनय-विनय की नीति के विपरीत स्पष्ट रूप से इसका विरोध किया था। इस संबध में रवीन्द्रनाथ लिखते हैं—"बंगविभाग और शिक्षाविधि के संबंध में अपने देश में संप्रति जो आंदोलन हो गया है, उसके अनोखेपन को विदेशी लोगों ने भी लक्ष्य किया है। सब कहते हैं, इस बार के भाषणों में राजभक्ति का ढोंग नहीं है, सँभल कर अपनी बात कहने का प्रयास नहीं है, मन की बात को स्पष्ट रूप से बोलने की एक चेष्टा दिखायी पड़ी है। इसके अतिरिक्त, किसी अंग्रेजी अखबार में यह बात भी दिखायी पड़ी है कि राजा से फरियाद करने का कोई लाभ नहीं–पहली बार इस प्रकार की निराशा का भाव प्रकट हुआ है।" (बंगविभाग)

रवीन्द्रनाथ का विश्वास था कि आंतरिक रूप से हम एक रहें तो बंगभंग

जैसे केवल बाहरी प्रयास से हिन्दू-मुसलमान दोनों संप्रदायों को विभक्त नहीं किया जा सकता- "यदि हम अपनी ओर पूरी तरह देखें तो निराशा का लेशमात्र भी कारण नहीं दिखायी पड़ता। बाहर का कुछ भी हमें जुदा कर सकेगा यह बात हम किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करेंगे। विच्छेद की चेष्टा ही हमारी ऐक्यानुभुति को दुगुना कर देगी। हम पहले जड़ रूप से एक थे, अब सचेतन रूप से एक होंगे। बाहर की शक्ति यदि प्रतिकूल हो तभी प्रेम की शक्ति जाग्रत हो कर प्रतिकार की चेष्टा में प्रवृत्त होगी। इस चेष्टा से ही हमारा वास्तविक लाभ है। कृत्रिम विच्छेद जब बीच में आ कर खड़ा होगा तभी आंतरिक एकता उद्वेलित हो उठेगी।" (वही) किन्तु यथार्थ रूप में रवीन्द्रनाथ को वह आकांक्षित एकता नजर नहीं आ रही थी जिसके बल पर अंग्रेजों की चाल को निष्फल किया जा सके। इस पर दुःख प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा– "और झूठी बात कहने की जरूरत नहीं। अब हमें स्वीकार करना ही होगा कि हिन्दू-मुसलमान के बीच एक विरोध है। हम जो केवल अलग ही नहीं हैं, परस्पर विरोधी भी हैं। सैकड़ों वर्षों से पास-पास रहते हुए हम एक ही खेत की फसल, एक नदी का पानी, एक सूर्य के आलोक का उपभोग करते हैं ; हम एक भाषा में बात करते हैं, हम एक ही सुख-दुःख के मनुष्य हैं ; तो भी प्रतिवेशी के साथ प्रतिवेशी का संबंध जैसा मनुष्योचित, धर्मविहित होना चाहिए वैसा हममें नहीं है। सुदीर्घ काल से हमने अपने बीच एक ऐसे पाप का पोषण किया है कि एकत्र मिल कर भी हम विच्छेद को रोक नहीं सके। हमारे इस पाप को ईश्वर किसी भी प्रकार क्षमा नहीं कर सकते।" (व्याधि और प्रतिकार)

१६ अक्टूबर १९०५ को बंगभंग की घोषणा हुई। पूरे बंगाल में इसका प्रबल विरोध हुआ। फलस्वरूप एक ओर स्वदेशी आंदोलन ने जोर पकड़ा तो दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमान की एकता को सुदृढ़ करने का प्रयास हुआ। रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के साथ मिल कर रवीन्द्रनाथ ने उस दिन 'राखीबंधन' उत्सव की परिकल्पना की। सड़कों पर शोभायात्रा निकाली गयी जिसमें रवीन्द्रनाथ ने सक्रिय रूप से भाग लिया। तथा मुसलमान भाइयों को राखी बाँध कर उनका प्रेमालिंगन किया। किन्तु रवीन्द्रनाथ इस उत्तेजना और आवेशमय परिवेश में अधिक दिन नहीं रह सके। वे कुछ ठोस कार्य करना चाहते थे, स्वदेशी आंदोलन के वर्तमान स्वरूप में उन्हें सफलता नहीं दिख रही थी। स्वदेशी समाज के संबंध में इसके पूर्व ही उन्होंने चिंतन-मनन किया था जिसका परिचय उनके 'स्वदेशी समाज' (१९०४) शीर्षक निबंध में मिलता है। देश की समाजव्यवस्था, कृषिव्यवस्था, शिक्षाव्यवस्था में वे स्वयं को तथा लोगों को रचनात्मक रूप से नियोजित करना चाहते थे। 'यदि तोर डाक

शुने केउ ना आसे तबे एकला चलो रे' की नीति अपनाते हुए अपनी जमींदारी शिलाइदह और शांतिनिकेतन-श्रीनिकेतन के ग्रामीण-प्राकृतिक परिवेश में उन्होंने इसकी शुरुआत की।

विश्वभारती पत्रिका में समय-समय पर रवीन्द्रनाथ की क़विताओं और उनके निबंधों के अनुवाद प्रकाशित किये जाते हैं। प्रस्तुत अंक में भी उनकी एक कविता का अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है जिसकी प्रासंगिकता विश्व की वर्तमान उत्तेजनामय परिस्थिति में और बढ़ गयी है। मनुष्य की असहिष्णुता और बर्बरता, उग्र राष्ट्रीयता और तद्‌जनित मनुष्य तथा राष्ट्र की हिंसक वृत्ति, युद्धजन्य विभीषिका आदि से मानवता की रक्षा के लिए रवीन्द्रनाथ सर्वदा तत्पर रहे और जब भी ऐसी परिस्थिति आयी उसका विरोध उन्होंने अपनी कविताओं, अपने निबंधों और व्याख्यानों द्वारा किया। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध दोनों से वे मर्माहत हुए। जिस मानवीय सभ्यता पर उन्होंने विश्वास किया था उस पर संकट के बादल को घिरते देख जीवन के अंतिम दिनों में वे विचलित हो गये थे। अपने अंतिम जन्मदिन (१९४१) के उपलक्ष्य पर शांतिनिकेतन में प्रदत्त अपने व्याख्यान (सभ्यता का संकट) में यह कहने के बावजूद कि 'विदाई की इस वेला में मेरे विश्वास का दिवाला निकल गया है', मनुष्यता पर उनकी आस्था समाप्त नहीं हुई थी और महाकाश में उन्हें 'जय जय जय रे मानव-अभ्युदय' का मन्द्रस्वर सुनाई पड़ रहा था—"किन्तु मनुष्य के प्रति विश्वास खोना पाप है, अंत तक मैं विश्वास की रक्षा करूँगा। आशा रखूँगा कि महाप्रलय के पश्चात् वैराग्य के मेघमुक्त आकाश में इतिहास का एक निर्मल आत्मप्रकाश आरंभ हो सकेगा इस पूर्वाचल के सूर्योदय के दिगन्त से। फिर एक दिन अपराजित मनुष्य अपनी जययात्रा के अभियान में समस्त बाधाओं को अतिक्रम कर अग्रसर होगा अपनी महत् मर्यादा को पुनः पाने के पथ पर। मनुष्यत्व के अंतहीन, प्रतिकारहीन पराभव को चरम रूप में विश्वास करने को मैं अपराध समझता हूँ।"

इस अंक में प्रकाशित अनूदित कविता रवीन्द्रनाथ के 'जन्मदिने' शीर्षक काव्यग्रंथ में संकलित है जो १९४० में लिखी गयी थी। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में यूरोप की बर्बरता और लूट-खसोट की जो व्यापक प्रतिक्रिया उनके मन में हुई उसकी अभिव्यक्ति उनके निबंधों के साथ-साथ कविताओं में भी हुई। प्रस्तुत कविता में द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका की अभिव्यक्ति हुई है।

रामेश्वर मिश्र

प्रकाशक का वक्तव्य

विश्वभारती से हिन्दी, बाङ्ला और अंग्रेजी में शोध और संस्कृति विषयक तीन पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है। हिन्दी विश्वभारती पत्रिका का आरंभ सन् १९४२ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के संपादन में महात्मा गाँधी के आशीर्वचन के साथ हुआ। इसके पीछे मूल प्रेरणा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की थी। छह वर्ष पूरे करने के बाद विभिन्न कारणों से पत्रिका का प्रकाशन स्थगित हो गया। आचार्य द्विवेदी भी हिन्दी विभाग के अध्यापक हो कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चले गये। पुनः १९६१ में आचार्य विनोबा भावे के संदेश के साथ प्रोफेसर रामसिंह तोमर के संपादन में विश्वभारती पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। विश्वभारती पत्रिका निकलती रही तथा महात्मा गाँधी, सी.एफ. एंड्रयूज, रामानंद चट्टोपाध्याय, तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ, बनारसी दास चतुर्वेदी आदि पर केंद्रित कई महत्वपूर्ण विशेषांकों का प्रकाशन हुआ।

इधर कुछ वर्षों से पत्रिका पुनः अनियमित हो गयी, इसका हमें खेद है। हम आशा करते हैं, संयुक्तांकों एवं विशाषांकों के द्वारा पत्रिका को अद्यतन कर लिया जाएगा। पत्रिका में पूर्व की भाँति रवीन्द्रनाथ तथा शांतिनिकेतन के अन्य कलाकारों के चित्र भी प्रकाशित किये जाएँगे।

इस संयुक्तांक से पत्रिका का वार्षिक मूल्य १०० रुपये किया जा रहा है। प्रकाशन व्यय तथा डाक व्यय की दृष्टि से यह अनिवार्य हो गया था। हमें विश्वास है कि पत्रिका के ग्राहकों, सरकारी-गैर सरकारी संस्थाओं, पुस्तकालयों से यथावत् सहयोग मिलता रहेगा।

विश्वभारती पत्रिका के आदि संपादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के उपलक्ष्य में उन पर केंद्रित एक विशेषांक प्रकाशित किया जाएगा, साथ ही उनके संपादकत्व में प्रकाशित विश्वभारती पत्रिका के अंकों का एक संकलन भी प्रकाशित करने की योजना है। विश्वविद्यालय ने हलवासिया शोध ग्रंथमाला के कार्य को भी पुनः आगे बढ़ाने का निर्णय लिया है। इस दिशा में भी प्रयास चल रहे हैं।

सुनील कुमार सरकार
अध्यक्ष,
विश्वभारती प्रकाशन विभाग